प्रह्लाद

1983 No. 3 1984 No. 1


ckt
151377

वेद एवं कला महाविद्यालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार

की

त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका

प्रह्लाद



[वर्ष—१९८३ (अक्तूबर से दिसम्बर तक) अंक—३]

प्रकाशक :

डा० जबर सिंह सेंगर

कुलसचिव :

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

इस पत्रिका के अन्तर्गत प्रकाशित किसी भी लेख में निहित विचारों के हेतु यह संस्था अथवा पत्रिका उत्तरदायी नहीं है, वरन् यह लेखक का निजी उत्तरदायित्व है ।

— सम्पादक

आवश्यक सूचना

इस पत्रिका में "राष्ट्रीय एकता विशेषांक" हेतु लेख आमंत्रित हैं । लेखकगण अपने लेख २८ फरवरी तक भेज दें । छात्रों को इनाम लेखों पर पुरस्कार प्रदान करने की भी व्यवस्था है ।

—सम्पादक

विषय-सूची

प्रह्लाद

(त्रैमासिक हिंदी-पत्रिका)

वर्ष १९८३ (अक्तूबर से दिसम्बर तक) अंक : ३

वेदामृत

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥

सामा०/पूर्वार्चिक/१/६/१२

(अर्थ —परमात्मा हमको प्राप्त हो। वेद की सत्यवाणी भली प्रकार प्राप्त हो। फैलने वाले, मनुष्यों के हितकारक, पांच पुरुषों से सेवित यज्ञ को अग्नि वायु आदि देवता ले जावें।)

शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥

साम०/पूर्वार्चिक/१/३/१३

(अर्थ—परमात्मा की दिव्य शक्तियाँ हमारे मनोवांछित आनन्द के लिए सुखदायिनी होवें, हमारी तृप्ति के लिए सुखदायिनि होवें। हमारे लिए दिव्य सुख को वर्षाएं।)

परिवाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्।
दधद्रत्नानि दाशुषे॥

साम०/पूर्वार्चिक/१/३/१०

(अर्थ—अन्नपति अन्नदाता बुद्धिमान प्रकाशस्वरूप परमात्मा हम दानी पुरुषों के लिए ग्रहण के योग्य धनों को देता हुआ सर्वत्र व्याप्त रहा है।)

(यथार्थ में परमात्मा ही सब का अन्नदाता है और अनन्तज्ञानवान् तथा प्रकाशवान् है। वह दानशीलों को अपनी व्यापकता से कर्मानुसार धनादि पदार्थ देता है।)

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते॥

साम०/पूर्वाचित/१/९/५

(अर्थ —समस्त मरणधर्मी मनुष्य जिस अमर अग्नि में होम करते हैं; वह बहुतों का प्यारा, इष्ट सिद्धिकारक, सदा गमनशील आत्माग्नि के रूप में वर्णित किया जाये।)

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य

ले० महात्मा मुंशीराम

स्वाध्याय का क्या अर्थ है ?

योग दर्शन में महामुनि पतंजलि क्रियायोग का लक्षण इस प्रकार करते हैं "तपः स्वाध्येयेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ।।" योग० पा० 2 सू० ।" इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने स्वाध्याय शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है :—

"स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वाः ।"

शब्दरत्नावली कोष में स्वाध्याय का निम्नलिखित लक्षण किया है :—

"स्वाध्यायः क्षय इत्युक्तो वेदाध्ययन कर्मणि ।"

प्रणव पुरुष सूक्त रुद्रमण्डल ब्राह्मण ब्रह्मपारायण इत्यादि का जप स्वाध्याय शब्द से लिया है । तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये क्रियायें योग का साधन होने से क्रिया योग कर के कही गई है । इन क्रियाओं के करने से समाधि लगने लगती है और क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं । इस में ज़रा सोचने की बात है कि केवल जप मात्र करने से अर्थात् मुख से शब्द का उच्चारण मात्र करने से मन की शुद्धि नहीं हो सकती । और मन के ऊपर प्रभाव न पड़ेगा तो समाधि का लगना और क्लेशों का सूक्ष्म होना नहीं हो सकता । इसलिए जप शब्द से शब्द का उच्चारण पूर्वक अर्थ का चिन्तन भी समझना चाहिए । ऐसा ही "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" । यो०पा० । १ सू० १८—में कहा है मुखयतः अर्थानुचिन्तन ही स्वाध्याय शब्द से लेना चाहिये, क्योंकि यदि कोई मुख से उच्चारण न भी करे, परन्तु अर्थों पर विचार करे तो उसकी भी समाधि लगने लगेगी और क्लेश क्षीण होने लगेंगे । इसलिये स्वाध्याय शब्द का अर्थ किसी गूढ़ तत्व पर विचार करना हुआ, क्योंकि वेद शब्द से ज्ञान मात्र का ग्रहण होता है, क्योंकि वेद को ब्रह्म कहते हैं ।

स्वाध्याय और ब्रह्मचारी
किस तरह सम्बद्ध है ।

और ब्रह्म का लक्षण "सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म" किया है। ब्रह्म नाम आत्मा का है अतः आत्मा को ज्ञान स्वरूप माना है। इस प्रकार स्वाध्याय शब्द का अधिक व्यापक अर्थ करें तो "अपने अध्ययन" का नाम स्वाध्याय होता है। "अपना अध्ययन" पूरी तरह से हो जाय इस ही लिये तो सारा प्रयत्न किया जाता है। योग दर्शन "अपना अध्ययन" कराने के लिये प्रवृत्त हुआ। जितने अन्य वेदादि शास्त्र हैं वे भी "अपना अध्ययन" कराने के उद्देश्य से ही प्रवृत्त हैं। यूरप और अमेरिका के बड़े-२ फिलौसफरों (तत्वान्वेषकों) ने "अपना अध्ययन" करने को अर्थात् Reality of life के पता लगाने को अपने जीवन लगा दिये। अर्थात् स्वाध्याय शब्द का अर्थ "अपना अध्ययन" करना वा "आत्मा को पढ़ना" अथवा नित्य नियत रूप से रहने वाला ; 'ज्ञान प्राप्त" करना स्वाध्याय शब्द का अर्थ हुआ।

ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है ?

श्री वाचस्पति मिश्र ने भामति के ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण में ब्रह्मचारी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"ब्रह्म वेदार्थं व्रतं तच्चरतीति ब्रह्मचारी"।
यूं भी ब्रह्मचारी शब्द की व्युत्पत्ति कर सकते हैं—
"ब्रह्मणि वेदे चरति यः स ब्रह्मचारी"।

अर्थात् ज्ञान में अव्याहत गति से जो विचारता है वह ब्रह्मचारी कहाता है। अर्थात् जिसका सारा समय तत्वों के विचार में ही बीत जाता है उसको ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचारी का जो कर्म हो उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। अर्थात् गूढ़ विचारों में मग्न रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

स्वाध्याय शब्द की विवेचना करते हुए अन्त में परिणाम निकाला था कि नित्य नियत रूप से विद्यमान जो सत्य ज्ञान है उसका प्राप्त करना स्वायधाय है। और अब ब्रह्मचर्य शब्द की विवेचना से पता लगा कि उसी ज्ञान में विचारने का नाम ब्रह्मचर्य है। बात क्या है कि ब्रह्मचारी और स्वाध्याय का इतना गहरा सम्बन्ध है कि ब्रह्मचारी और स्वाध्याय नहीं करता वह वस्तुतः ब्रह्मचारी नहीं है। स्वाध्याय करना ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य है। स्वाध्याय अंगी है और ब्रह्मचर्य उसका अंग है ऐसा भी कई कहते हैं। स्वाध्याय का सबसे पृथक काल ब्रह्मचर्याश्रम है। इसी समय पूर्ण स्वाध्याय को प्राप्त करने के लिए नींव रखी जाती है। जिन्होंने इस समय को व्यर्थ

खोकर स्वाध्याय नहीं किया वे पूर्ण स्वाध्याय को तो प्राप्त हो ही नहीं सकते, परन्तु जीवन भर पछताते हैं और यथेष्ट सुख को न प्राप्त हो कर दुःख भोगते हैं। जो इस समय को स्वाध्याय में लगाते हैं वे ही भविष्यत् जीवन में शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। पूर्ण स्वाध्याय करना और परमात्मदर्शन करना एक ही बात है। परमात्मा का दर्शन उस अवस्था में होता है जब स्वाध्याय और योग की सम्पति हो जाती है। जैसा कि योग दर्शन के प्रथम पाद के २८वें सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि कहते हैं :—

"स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याय योगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।"

अर्थात् चित्त को एकाग्रता पूर्वक तात्विक विचारों की सम्पत्ति जब होती जाती है तो ज्ञान स्वरूप परमात्मा का प्रकाश होने लगता है, अर्थात् आप से आप हृदय में ज्ञान का स्फूरण होने लगता है इसलिये ब्रह्मचर्याश्रम के काल को स्वाध्याय में ही निरन्तर करना चाहिये।

पं० रामचन्द्र वैद्य शास्त्री अलीगढ़ निवासी ने "ब्रह्मचर्य और उसकी उपकारिता" पर एक निबन्ध षष्ठ वैद्य सम्मेलन में पढ़ा जिसमें वह ब्रह्मचर्य का अर्थ "वीर्य रक्षा पूर्वक विद्याध्ययन करते हैं"। इससे स्पष्ट है कि विद्याध्ययन वीर्यरक्षा के बिना नहीं हो सकता। तथा यह भी जानना चाहिए कि स्वाध्याय के बिना वीर्यरक्षा भी नहीं हो सकती। महाभारत-३/२४/१५, में भिक्षु का विशेषण स्वाध्यायी आया है। भिक्षु अर्थात् सन्यासी होना ब्राह्मण ही का अधिकार है अन्य का नहीं ऐसा स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्राकाश में निर्णय किया है। ब्राह्मण और सन्यासी का ही काम विद्या और प्रचार करना लिखा है। इस से ज्ञात होता है कि स्वाध्याय करना ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है। बिना स्वाध्याय करते रहने से कोई ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं कहा सकता। वहां लिखा है—

"ब्राह्मण- साग्निहोत्राच्च तथैव चनिरग्नयः। स्वाध्यायिनो भिक्षवच्च तथैव बनवासिनः।"

उर्ध्वरेता होने के लिए स्वाध्याय की बड़ी भारी आवश्यकता है। जो लोग उर्ध्वरेता हुए हैं उनका सारा समय स्वाध्याय में ही बीतता था। स्वाध्याय न करने से ही विषयवासनाओं में मन फंस कर ब्रह्मचर्य से पतित होने को ले जाता है। जो स्वाध्याय में निरत रहते हैं उन्हें किसी प्रकार के प्राकृत सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं रहती वे दिव्यश्री को देने वाले वीर्य की रक्षा करने से और स्वाध्याय में उसका

उपयोग करने से उस श्री को प्राप्त होते हैं जिसे स्वाध्याय न करने वाले नहीं होते। उन पुरुषों का वीर्य दिमाग़ में संचित होकर और विचार में उपयुक्त होकर उनको उर्ध्व रेता बनाता है तथा बल ओज श्री आदि पदार्थ उनको देता है। नित्य निरन्तर स्वाध्याय में लगे हुए पुरुष उर्ध्वरेता होते हैं और मरणपर्यन्त सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य में वास करते हैं उनको दारपरिग्रह की इच्छा भी नहीं होती। ऐसा ही महाभारत १/४०/१० में कहा है :—

"सतुर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा न चापि दारान्मनसाप्यकाङ्क्षत॥"

स्वाध्याय से ब्राह्मण तनु मिलती है ऐसा मनु महाराज ने माना है
"स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः॥"

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मचारी को यम नियम का सेवन करना लिखा है। इस यम नियमों को देखने से प्रतीत होता है कि यम नियमों का क्रम से आपस में सम्बन्ध है अर्थात परस्पर एक दूसरे के उपकार्य और उपकारक हैं।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमाः। इससे तो बिलकुल स्पष्ट सिद्ध है कि स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य (वीर्यरक्षा) में किस कदर सम्बन्ध है। मनु महाराज अ०२ के १०५, १०६, १०७ श्लोकों में कहते हैं कि स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है उसमें अनध्याय नहीं हो सकते। अन्य कामों में जो ब्रह्म यज्ञ से बाहर हैं उनमें अनध्याय हो जाय तो हो जाय। जो पुरुष वर्ष भर नित्य नियत रूप से स्वाध्याय को करता है वह उन शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है कि उस के पास दूध, दही, घी, मधु की वर्षा होने लगती है, यह स्वाध्याय ही का फल है।

"वेदोपकरणे चैव स्वाध्यायेचैवनैत्यिके नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैवहि॥"

"नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रंहितस्मृतम्।
ब्रह्माहुति हुत पुण्यमनध्यायवषट् कृतम्॥"
"यः स्वाध्यायमधीतेब्दं विधिनानि यतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षुरत्येष पयोदधि धृतं मधु।"

मनु ने अ०२ के १६५–१६८ तक श्लोकों में बताया है कि जो द्विज स्वाध्याय अर्थात् तप नहीं करता वह द्विज नहीं पर शूद्र है।

"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजगमना॥"
"वेदमेवसदा भ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासोहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥"
"आहैवसनखाग्रेभ्यः परमं तप्यतेतपः।
यः स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधिते स्वाध्यायंशक्तितोऽन्वहम्॥"
"योऽनधीत्यद्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्॥
सजीवन्नेवशूद्रत्वमाशुगच्छतिसान्वयः॥"

मनु जी ने अ० ३ श्लो ७५, ८१ में कहा है कि स्वाध्याय और देव यज्ञ दोनो को जो नित्य प्रति करता है वह चराचर का पोषण करता है ये दोनों यज्ञ ही ब्रह्मचारी के लिए मुख्यतया विहित हैं। यदि ब्रह्मचारी संसार के प्रति कुछ उपकार करना चाहता है, यदि संसार के प्रति कुछ कृतज्ञता का भाव रखता है तो इन दोनों यज्ञों का परित्याग कभी न करे और स्वाध्याय मे ही निरन्तर संलग्न रहे। प्रत्येक मनुष्य पर तीन ऋण कहे जाते हैं उन में से ऋषि ऋण का उतारना स्वाध्याय से ही माना है। ऋषियों की पूजा, अर्चन वा तर्पण वही कर सकता है, जो स्वाध्याय में लगा रहता है, दूसरा नहीं। "स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवेचैवेहकर्मणि दैवेकर्मणियुक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्॥" "स्वाध्यायेनर्चयेतर्षीन्होमैर्देवान् यथाविधि। पितृन्श्राद्धैश्च न नन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥" मनुमहाराज अ० श्लो० १७

सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्यविरोधिना। यथा तथा ध्याययंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता।" बताते हैं कि स्वाध्याय के विरोधी जितने काम हैं उन सब को छोड़ दे, अर्थात जिन व्यवहारों के करने से स्वाध्याय में विघ्न पड़ता हो वे व्यवहार त्याज्य हैं। जिन व्यवहारों से जीविका प्राप्त होती है, दिन भर चैन रहती हो वे व्यवहार यदि स्वाध्याय में बाधक हैं तो त्यज्य ही हैं। जीविका जाय पर स्वाध्याय न जाय। मनु महाराज समझते थे कि जिस पदार्थ को तुम प्राप्त करना चाहते हो वह स्वाध्याय से ही प्राप्त होगा अन्यथा भटकते और मारे फिरना पड़ेगा और कुछ प्राप्त न होगा। जो मनुष्य संसार में स्वाध्याय न करके अपने कर्तव्याकर्तव्य को न विचार कर, अपने जीवन के उन्नति और अवनति के अंशों पर ध्यान देकर, जीवन के उत्तम बनाने वाले, पथको ध्यान में न रखकर, ये अच्छा, वह खराब, फलाना ऐसा, उसे यूं करना चाहिए, यूं नहीं, दूसरे व्यक्तियों की आकृतियां, चेष्टायें देखते रहते हैं वे स्वाध्याय नहीं कर

सकते वे मनुष्य आलसी, तमोगुणी, स्वार्थ परायण अर्थात् प्रत्येक काम को तक करता या हाथ में लेना जबकि उनका अपना उससे कुछ सिद्ध होता हो नहीं तो नहीं, वे लोग कपड़े लत्ते, खाने पीने की रहना सहने की बातें करते रहेंगे और कभी उन्हें सन्तोष नहीं होगा, उनकी बातों के सुनने से सर्वदा उनका असन्तोष ही प्रकट होगा। ये लोग संयमी न होंगे, पुरुषार्थी न होंगे सर्वदा दूसरों से किसी न किसी प्रकार से बदला लेने की सोचते रहेंगे दूसरों की उन्नति को देख कर इनके दिलों में ईर्ष्या जलन होगी और अभिमान में भर कर आगे पीछे निन्दा करने में तत्पर रहेंगे। असहनशील होंगे, दूसरों के कथन को सहन न कर सकेंगे संदर्भ प्रचारक पौष २५ संवत १८७२ (पृ० १०-१२ से सभार) ये अविचारशीलता के कारण शीघ्र ही क्रोधान्ध हो जाएंगे। ऐसे २ कार्य करते करते इनमें निर्लज्जता आ गई होगी। अपना स्वार्थ साधने के लिये जो कुछ भी करना पड़े करने को तैय्यार होंगे। इनके अन्दर प्रेम का भाव बहुत ही न्यून होगा, दूसरों के प्रति घृणा बहुत होगी। ऐसे लोग शूद्रों से भी गिरे हुए होते हैं क्योंकि स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में उत्तम शूद्र वह लिखा है जिसे पढ़ना लिखना कुछ न आता हो और निन्दा ईर्षा अभिमान को छोड़ कर द्विजों की सेवा करता हो। इन लोगों में ये गुण भी नहीं होते तो किसी अच्छे शूद्र में होने चाहिए। इन दोषों के होते हुए ये लोग कभी भी ब्रह्मचारी नहीं रह सकते और ब्रह्मचर्य पूर्वक स्वाध्याय करना तो इनके लिये असम्भव सी बात है। धर्म पूर्वक चलने वाले लोगों की प्रतिष्ठा देख कर यदि उनके मन में भी कभी उसी प्रकार कार्य करने को आवे और कोई रास्ता ढूंढना चाहें तो उन्हें यही करना चाहिए कि पहले इन दोषों को छोड़े फिर स्वयं ही सफलता होगी।

ब्रह्मचर्याश्रम को धारण किये मनुष्य का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह उत्तम शूद्रवत् बनने की कोशिश करे, अर्थात् निन्दा ईर्षा अभिमान को सर्वथा त्याग करके अपने बड़ों की आचार्य अध्यापक अधिष्ठाता तथा अन्य पूज्य मनुष्यों की भक्ति पूर्वक सेवा करे जिस से उसकी आयु विद्या यश और बल बढ़े।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य पूर्वक स्वाध्याय करता हुआ अपनी प्रथम आयु (ब्रह्मचर्य-काल) को समाप्त करता है वह उत्तम शूद्रवत् होने के पश्चात् अन्यवर्ण और अन्य आश्रमों को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। अन्यथा ग्रहण करने से तो कष्ट में ही पड़ा रहता है जैसे भार लदे गधे को कष्ट मालूम होता है। ऐसे उसे भी कष्ट भोगना पड़ता है, और वह मनुष्य संसार में पाप बढ़ाता है। मनु ने जैसे स्वाध्याय को तप कहा था ऐसे ही अ० ।। श्लो० २४४

"ब्रह्मचर्यं जपो होमः कालेशुद्धाल्प भोजनम्।
अरागद्वेषलोभाच्च तप उक्तं स्वयं भुवा ।।"

इसमें ब्रह्मचर्य को तप बताया है।

वेदाभ्यास अर्थात् स्वाध्याय करने से ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। ऐसा मनु ने अ० ॥ श्लो० २४५, २४६ में कहा है।

वेदाभ्यासोन्वहं शक्त्या महायज्ञ क्रियाक्षमा। नाशयन्त्याशु पापानि महापातक-जान्यपि ॥"

"यथैधस्तेजना वन्हिः प्राप्तनिर्दहतिक्षणात्। तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्व दहति वेदवित्।"

प्रतिदिन अग्नि से प्रार्थना की जाती है—

"ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासम्" कि मैं ब्रह्मवर्चस् वाला होऊं अर्थात् जिस प्रकार वेद या ज्ञानमय परमात्मा के नियम इस संसार में दीप्त हैं इसी प्रकार में भी ज्ञानमय होकर दीप्त होऊं। वे ज्ञानमय परमात्मा के नियम आप ही आप नहीं आते परन्तु प्राकृतिक वस्तुओं को निरीक्षण परीक्षण करके उन पर विचार करने से अथवा सारे को मिला कर कहा जाय तो स्वाध्याय से आते हैं।

जो ईश्वर पर प्रेम रखता है अर्थात् उसे ज्ञानमय पूर्ण सब का नियन्ता समझता है और ज्ञान प्राप्त करते २ वैसा बनने का स्वयं प्रयत्न करता है वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है अर्थात् स्वाध्याय कर सकता है, इसीलिये प्रथम २ वच्चे की जीभ पर ओम् लिख कर उसके कान में वेदोसि कहा जाता है। ईश्वर में प्रेम ही ज्ञान का मूल है, इस प्रकार भक्तिभाव से ही मनुष्य विचारशील बनता है, विचारशील होने से ही धर्मिष्ठ होता है, धर्मिष्ठ होने से ही आरोग होता है। ब्रह्मचर्य का पालन ही मनुष्य का धर्मिष्ठ होना है। क्योंकि ब्रह्मचर्य को आरोग्य का मूल बतलाया है :—

"धर्तार्थ काम मोक्षणामारोग्यं मुलमुत्तम्।"

अग्निवेष महर्षि ने लिखा —

"शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता।"

जो मनुष्य ब्रह्चर्य का पालन नहीं करते वे बलहीन बुद्धि हो जाते हैं स्वाध्याय करने में समर्थ नहीं करते। और निराश हो जाते हैं उनको निराश न होना चाहिए। निराषता से अधिक २ गिरावट ही होती है, लाभ नहीं होता। बेदारम्भ के समय आचार्य शिष्य को उपदेश दिया करता है :—

ऋतं च स्वध्याय प्रवेचने च ते० (प्रपा० ७, अनु० ९)
सत्यं च ,, ,,
तपश्च ,, ,,
दमश्च ,, ,,
शमश्च ,, ,,
अग्नयश्च ,, ,,
अग्निहोत्रं च ,, ,,

इस में स्वाध्याय पर कितना बल दिया है। स्वाध्याय ही ब्रह्मचर्य का मूल है।

स्वाध्याय का प्रत्येक आश्रम से सम्बन्ध

ब्रह्मचर्याश्रम से स्वाध्याय का कितना सम्बन्ध है यह तो दिखाया ही है क्योंकि वेदारम्भ के समय आचार्य जो उपदेश देता है उसी से सिद्ध है, क्योंकि उस में स्वाध्याय कभी न छोड़ना यह सीधा ही उपदेश दिया है। परन्तु गृहस्थाश्रम में भी स्वाध्यायी रहने की आवश्यकता है। क्योंकि वहां भी ब्रह्मचर्य से रहना होता है। स्वाध्याय से अर्थात् दिन भर किसी न किसी विचार में अपना मन रखने से वीर्य की खपत विचार में ही होती रहती है और विषय वासना न उपजने से वीर्य की रक्षा से वह वीर्य पुनः शरीर की अन्य धातुओं में परिणत होने से शरीर को पुष्ट करता है। जो लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके एक प्रकार के बन्धन से मुक्त होना समझते हैं वे वहां पहुँच कर पतित हो जाते हैं और निर्बल हो कर निर्बल ही सन्तान को उत्पन्न करके संसार का अपकार करते हैं। वहां भी ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना बुद्धिमानों ने कहा है :—

"द्विविध्रं ब्रह्मचर्यमुख्यं गौणं चेति तत्र प्रथममकृतदारसंग्रहः द्वितीयमेकदारश्चेति प्रमाणमत्रमनुः—

"निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचाये व भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्॥

जिस समय आचार्य शिष्य के प्रति वेद का व्याख्यान कर चुकता है तो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद उसको इस प्रकार अनुशासन करता है :—

"वेदमनूच्य आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा-प्रमदः। इत्यादि॥" तै० प्रपा० 7 अनु० ११, कं० १,२,३,४

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वाध्याय गृहस्थाश्र में भी नहीं छूटता।

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके भी मनुष्य को मनु महाराज इस प्रकार उपदेश देते हैं :—

"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।।"
अर्थात् वानप्रस्थी स्वाध्याय में नित्ययुक्त रहे ।

सन्यासी के लिए तो उसका कर्तव्य ही यह बताया गया है कि विद्या दान और धर्म प्रचार करना उसका कर्तव्य है । सन्यासी का तो प्रत्येक समय ध्यान ब्रह्म में ही रहता है । वह तो स्वाध्याय करता ही रहता है ।

इससे दिखाया गया कि मनुष्य को सारा जीवन ही स्वाध्याय में लगा देना चाहिए । ब्रह्मचर्याश्रम में विशेष बल इसलिए दिया कि वह अगले आश्रमों का आधार है । यदि वहां स्वाध्याय में रहने का अभ्यास हो जायगा तो अगले आश्रमों मे भी स्वाध्यायी रह सकेगा । जिसको पहले से आदत नहीं डली वह अन्त में चाहे कि मुझे एक दम ऐसा अभ्यास पड़ जाय सो होना कठिन है । जिसने स्वाध्याय में रम करके ब्रह्मचर्याश्रम को पक्का कर दिया है वह अगले आश्रमों में भी यथा योग्य रीति से गुजर जायगा, जिन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम को पक्का नहीं किया उनका अगला सारा जीवन कच्चा दुःखमय रहेगा यह निश्चय जानना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति में किस प्रकार सहायक हैं ।

ब्रह्म में चरण करने से अथवा स्वाध्याय करने से क्या मिलता है । इसको पतंजलि मुनि बतलाते हैं "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।।

—यो०पा०२सू०३८

ब्रह्मचर्य व्रत को यदि पालन करें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को यदि संयम करें तो उसको सब प्रकार के सामर्थ्य की प्राप्ति होती है । वह मनुष्य अपनी विविध शक्तियों को सम्पादन करके वह २ काम संसार को करके दिखा सकता है जिनका होना साधारण लोग मनुष्य की शक्ति से बाहर समझते हैं । जिसका सब इन्द्रियों पर संयम हो जाता यह समझ लेना चाहिए कि उसका मन भी उसके वश में ही रहता है । इधर उधर डोलने फिरने से मनुष्य का सामर्थ्य क्षीण होता है । मन के वशीभूत होने से ही सामर्थ्य की प्राप्ति होती है । अतएव ब्रह्मचारी में मानसिक शक्ति की उन्नति भी समझनी चाहिए अर्थात् ब्रह्मचारी में जबरदस्त Will Power हो जाती है । वीर्य के वेग को संयम करने से जो वीर्य संचय होता है वह स्वाध्यायी पुरुष का जो विचार करता रहता है—विचार में लग जाता है तथा उलटे क्रम से पुनः अन्य धातुओं में परिणत हो जाता है । और इस प्रकार शरीर की सब धातुओं को पुष्ट करता शारीरिक उन्नति

करता है। साधारण अवस्था में वीर्य लोहित धातु में धला रहता है। जब कोई कामोत्तेजक भाव देख के सुन के पढ़ के स्पर्श से किसी प्रकार भी मन में विकृति उत्पन्न करता है तो लोहित धातु से वीर्य फट जाता है और बह कर अण्डकोष में जा पड़ता है, फिर जब उपस्थेन्द्रिय में किसी प्रकार Irritation होती है तो मूत्र के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है। वीर्य के वेग को रोकने का यह अर्थ है कि अपने मन में ऐसा भाव ही न उत्पन्न होने देना जिससे लोहित धातु से वीर्य फट जाये। यदि वीर्य फट जाये तब तो उसका निकल जाना ही अच्छा है। परन्तु प्रयत्न ऐसा करना चाहिए कि जिससे फटने न पावे। इसी लिए शिक्षित लोग विशेष उपन्यास विशेष काव्य तथा विशेष २ प्रकार की कथा कहानियां पढ़नी या कहनी जो ऐसे भावों को उत्पन्न कर सकती है जिनसे मन में विकृति हो, निषेध करते हैं। यदि कोई आदमी इतना अधिक संयमी हो जैसे स्वामी जी थे जो गृहस्थ विषयक, पति पत्नी के प्रेम विषयक सब प्रकार की बातों को जानते थे लिख भी गए परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, यदि किसी की ऐसी अवस्था हो जाये तो वह यदि पढ़े तो उसे हानि होने की सम्भावना नहीं परन्तु वे लोग जो अभी अभ्यास मार्ग में पड़े ही हैं जिन्हें अभी पूरा संयम नहीं वे इस प्रकार के निषिद्ध कार्यों में यदि पडेंगे तो उन्हें अवश्य ही हानि उठानी पड़ेगी और भविष्यत् जीवन में पश्चाताप करना पड़ेगा। शिक्षक वर्ग अथवा कोई भी जो किसी को कुछ बात कहता है वह अच्छे भाव से ही उसे ग्रहण करनी चाहिए। चाहे कहने वाला किसी भाव से भी कहे। किसी बात में दूसरे का भाव बुरा लेने से अपना आत्मा तो बिगड़ता ही है, परन्तु बहुत-सी बातों से जो लाभदायक भी होती हैं इसी कारण वंचित रहता है। दूसरे से यदि कोई बात बुरे भाव से कही है तो कहने वाले का अपना आत्मा कुलषित होगा, सोचना यह चाहिए कि जो बात बताई गई है उस से क्या लाभ विशेष हो सकता है यदि लाभ विशेष कोई न दीखे और हानि उसमें कोई न हो तो उसको ग्रहण करने में क्या डर है, यही समझ लेना चाहिए कि बताने वाले ने कोई लाभ सोचा होगा जो हमारी दृष्टि में नहीं आता। बहुत बार मनुष्य अज्ञान के कारण कई बातों को जो साक्षात अथवा परम्परया हानिकारक प्रभाव उत्पन्न करने वाली हैं उन्हें बहुत गहरी विचार की कसौटी पर न परख करके बुरी बातों को अच्छ समझ लेता है और समझाने पर अपने कार्य को ठीक समझता हुआ नहीं छोड़ता प्रत्युत समझाने को सर्वथा त्याग करके मनुष्य को अपना हानि लाभ विचारते हुए दूसरों की बात सुननी चाहिए। अभिमान ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को अन्धा बना लेती है और उस में अच्छे बुरे में विवेक करने की शक्ति मार देती है। ब्रह्मचर्य काल में अभिमान का सर्वथा त्याग करना ही मनुष्य को अपना बड़ा भारी कर्तव्य समझना चाहिए। इसी से उसकी विवेक शक्ति का प्रसार होगा और वह अपने भविष्यत् जीवन के कार्यों में सफल हुआ करेगा। उस पुरुष में दूरदर्शिता की शक्ति बढ़ेगी। और सत्पथ पर बड़ी आसानी से चलता चला जायेगा। जिस पुरुष में यह ऊपर के गुण होंगे उसमें साहस उत्पन्न होगा। दृढ़ता आती आएगी। जिस कार्य को हाथ में लेगा उस से घबरायेगा नहीं पूर्ण कर ही

देने का प्रयत्न करेगा। ऐसे पुरुषों में निर्भीकता उत्पन्न हो जाएगी। उसके अन्दर दूसरों के लिए सहानुभूति का भाव उत्पन्न होगा। दूसरों से प्रेम करेगा उनकी सहायता करेगा। तथा अन्यों को अपने साथ मिला कर बड़े २ कार्यों को सहज ही से सिद्ध कर सकेगा। संगठन शक्ति को लोगों में उत्पन्न करने में वह ही समर्थ होगा। और देश में जातीयता को उत्पन्न कर सकेगा। ये सब गुण मनुष्य की आत्मिक उन्नति को सूचित करते हैं। इनका आधार वह ही ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय है।

जो मनुष्य अभिमानी होगा, वह क्रोधी होगा. अस्थिर स्वभाव का होगा, अविवेकी होगा, अधीर होगा, शीघ्रकारी होने से बारबार कुपथ में पड़ेगा, अधिक खर्चीला होगा, स्वार्थी होगा, उसमें सब उनसे उलटे गुण होंगे, जो ऊपर आत्मिक उन्नति वाले में दिखाये हैं।

चरक में किस उत्तमता से ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की है। यथा :—

"पुण्यतमायुः प्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनम्। ऊर्जस्करमनूतं शिवं शरण्यमुदात्तमतः श्रोतुमर्हथोपधारयितुं प्रकाश यितुञ्च प्रज्ञानुग्रहार्थमार्यं ब्रह्मचर्यम्।"—अर्थात् ब्रह्मचर्य पुण्यतमायु को बढ़ाने वाला, जरा और व्याधियों का प्रशमन करने वाबा, सहन शक्ति को देने वाला, ऊंचे विचारों को उत्पन्न करने वाला स्वयं कल्याणरूप और शरणागत का रक्षक है।

मनुष्य यदि संयम के साधन स्वाध्याय को करता हुआ ब्रह्मचर्य को धारण करे तो वह नीरोग रहेगा, और वंश परम्परा से प्राप्त जो राग हैं शनैः शनैः उन्हें भी प्रयत्न से शमन करने में समर्थ होगा।

लोग सैंकड़ों औषधियां खाते पीते हैं पर वे अपना उत्तम प्रभाव नहीं कर सकतीं यदि ब्रह्मचर्य की उनके साथ सहायता न हो। अधिक क्या केवल ब्रह्मचर्य ही परम रसायन है और आयुष्य के देने वाला है। जैसा कि वाग्भट्टाचार्य ने अष्टांग हृदय में वर्णन किया है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोक द्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्चर्यमेकान्तनिर्मलम्॥

आहार शयना ब्रह्मचर्यैर्युक्तयाप्रयोजितैः।
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः॥

ठीक इसी प्रकार भगवान् आत्रेय ने चरक सूत्र में स्थान में जीवन के कारणों का वर्णन करते हुए शरीर के तीन उपस्तम्भ प्रथम आहार द्वितीय निद्रा तृतीय ब्रह्मचर्य बताये हैं और कहा है कि इन्हीं के युक्ति पूर्वक व्यवहार करने से शरीर के बल वर्णादि की वृद्धि होती है। आरोग्य सबल मनुष्य की दीर्घायु होना निर्विवाद है।

सुप्रसिद्ध डा० "एक्टन" साहब ने कहा है कि मैथुन का प्रभाव पट्ठों द्वारा मस्तिष्क तक अवश्य पहुंचता है और दुर्बल जन प्रायः अघात से मर भी जाते हैं देखिए शशक स्खलित होने के पश्चात् एक तरफ को गिर पड़ता है। इससे आप स्वयं विचार सकते हैं कि ब्रह्मचर्य खण्डन ही पूर्णायु का कट्टर शत्रु है। अन्यथा जो ब्रह्मचर्य धारण करेंगे वह अवश्य दीर्घायु होंगे, फलतः यह कहना पड़ेगा कि दीर्घायु प्राप्त करने के ब्रह्मचर्य से अधिक उपकारक दूसरा साधन नहीं है।

डा० कैसमन अपनी पुस्तक The Man, Physical Education के पृ० ४ और पृ० ११ में लिखते हैं कि उत्तम स्वास्थ्य बनाने के लिए जिन २ बातों की आवश्कता है उनमें एक Right Thinking है। अर्थात् जो मनुष्य प्रत्येक बात का अच्छा ही अर्थ ग्रहण करेगा उसका मन चंचल उद्विग्न न होगा। शान्त चित्त होने से उसके अंग प्रत्यंग ठीक २ कार्य करेंगे और स्वास्थ्य प्राप्त होगा अतएव शारीरिक उन्नति होगी।

"Thinking right will help you to secure help, will keep your blood flowing through your veins in right lively fashion."

वे ही डा० साहब लिखते हैं—Memory का आधार शारीरिक स्वास्थ्य है। परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य का आधार study अर्थात् स्वाध्याय या ब्रह्मचर्य से है इसलिए Study स्वाध्याय करने से Memory बढ़ती है यह समझना चाहिए।

डा० कैसमैन ही कहते हैं कि Personal Magnatism अर्थात् आत्म ज्योतिः प्राप्त करनी हो तो उसके लिए भी Study (स्वाध्याय) की आवश्यकता है।

डा० कैसमैन अपनी English नाम की पुस्तक के पृ० ७ में लिखते हैं कि—

"Veriety in reading contains truth, and that which contalns truth contains strength."

(स्वाध्याय) से मानसिक वाचनिक और कार्मिक तीनों प्रकार का सत्य मिलता है और सत्त से बल प्राप्त होता है।

शारीरिक मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की उन्नति का आधार स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य ही हैं यह दिखाया जा चुका। विद्या मनुष्य में मानसिक उन्नति को सूचित करती है। उस विद्या की स्थिति ब्रह्मचर्य के बग़ैर ऐसी ही है जैसे छेद हुए घड़े में जल की स्थिति है। कवि ने कहा है;—

दत्तापि विद्या गुरुणायथेष्ठं न ब्रह्मचर्येण विनाहितिष्ठेत्।
यथा घटे छिद्रयुते प्रपूर्णं पयोनतिष्ठेत् खलु बिन्दुमात्रम्॥

(सदर्भ प्रचारक : माघ २ सम्वत् १९७२–पृ०११-१३) से सभार।

0 — 0

गुरुकुलीय आचरण

ले० माननीय बलभद्र कुमार हूजा, कुलपति।

गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली में वेदांग सत्यशास्त्रों के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। लेकिन वेदाध्ययन से यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि वेद मंत्रों को केवल तोते की तरह रट लिया जाय और जगह जगह अपनी स्मरणशक्ति का प्रदर्शन करके अहंकार वृत्ति को तुष्ट किया जाय। वेदाध्ययन का लक्ष्य यह है कि वेदानुकुल आचरण का अभ्यास किया जाये। इसलिये सबसे पहले इस बात पर जोर दिया जाता है कि वेद मंत्रों के अर्थों का पूर्ण ज्ञान हो। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट कर दिया है- "जो वेद को स्वर और पाठ मात्र पढ़के अर्थ नहीं जानता वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है और जो वेद को पढ़ता है और उसका यथावत् अर्थ जानता है वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।"

ऋषि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सब ब्रह्मचारियों का रहन-सहन खान-पान एक प्रकार का हो, गुरुकुल में किसी भी प्रकार का, ऊंच-नीच भेद भाव सर्वथा अमान्य है। ऋषि ने लिखा है कि सबको तुल्य वस्त्र, खान पान आसन दिये जावें, चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे वह दरिद्र की सन्तान हो, सबको तपस्वी होना चाहिये।

ऋषि दयानन्द यम-नियम के पालन पर विशेष बल देते थे। उनके शब्दों में गुरु और शिष्य "अहिंसा (वैर त्याग), सत्य (सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना) अस्तेय अर्थात् मन, वचन कर्म से चोरी-त्याग, ब्रह्मचर्य अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, अपरिग्रह (अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमान रहित होना) इन पांचों का सेवन सदा करें। शौच (स्नानादि से पवित्रता) से सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं लेकिन पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष या शोक न करना), तप (कष्ट सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों में अनुष्ठान) स्वाध्याय (पढ़ना, पढ़ाना) ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति विशेष से आत्मा को अर्पित रखना) ये पांच नियम कहाते

हैं। यमों के बिना इन नियमों का सेवन न करें, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करें।

"विद्वान और विद्यार्थी के योग्य है कि वैर बुद्धि छोड़कर सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग पर उपदेश करें और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलता युक्त वाणी बोले। जो धर्म की उन्नति करे वह सदा सत्य में चले और सत्य का ही उपदेश करे।"

"आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित हो के पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ समस्त विद्याओं को ग्रहण कर और आचार्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह कर, सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से सत्य का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद औ- पढ़ने और पढ़ाने को मत छोड़। देव, विद्वान और माता-पिता की सेवा में प्रमाद मत कर। जो आनन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्य भाष्णादि को किया करे, धर्मयुक्त कर्म कर, उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर, जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्म युक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो पापाचरण हैं उनको कभी मत कर। जो हमारे मध्य में उत्तम विद्वान, धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास कर। श्रद्धा से देना. अश्रद्धा से देना; शोभा से देना, लज्जा से देना, भय देना, और प्रतिच्छा से भी देना चाहिये। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय हो तो जो वे समदर्शी, पक्षपातरहित, योगी आर्द्रचित्ताधर्म की (कामना करने वाले धर्मात्मा जन हो जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू भी उनमें वर्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की, उपनिषद की शिक्षा हैं।

ऋषि दयानन्द ने जोरदार शब्दों में कहा कि — "जो विद्या पढ़ाने में विघ्न हैं उनको छोड़ देवे जैसे कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग। दुष्टव्यसन जैसे मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यकाल में ही विवाह अर्थात् पच्चीस वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या का विवाह हो जाना, राजा, माता पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अतिजागरण, पढ़ने, पढ़ाने, परीक्षा लेने व न लेने में आलस्य या कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य से वीर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य धन की वृद्धि न मानना. ईश्वर का ध्यान छोड़कर पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ कर उर्ध्वपुण्ड आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि त्रयोदशी आदि व्रत मानना,

पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फंस कर ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं ;"

स्पष्ट है कि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की आधारशिला ब्रह्मचर्य, अप्रमाद धर्मयुक्त कर्म, उत्तम व्यवहार पर अवलम्बित है और इसी प्रकार के वातावरण को गुरुकुल कांगड़ी में प्रवाहित करने के लिये वहां के आचार्य कृत संकल्प हैं।

000

(साप्ताहिक "आर्य सन्देश" नई दिल्ली दि० १२.२.७८ से साभार)

देश एवं विदेशों में यज्ञ विज्ञान के प्रति रूचि

ले० श्री पं० वीरसेनजी वेदश्रमी वेद विज्ञानाचार्य
वेदन सदन, महारानी रोड़, इंदौर ४५२ ००७

यज्ञ से पृथिवी स्वर्ग बनेगी

वेदों का अपूर्व देन यज्ञ है। किसी समय-स्वर्गकामी यजेत - इस घोषणा के आधार पर स्वर्ग की कामना के लिये यज्ञ किये जाते थे। उस समय स्वर्ग कल्पना की अदृष्ट परिधि में था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उसे दृष्ट परिधि में स्थित कर दिया और कहा कि इसी जीवन में इसी पृथ्वी पर सुख विशेष का नाम ही स्वर्ग है और दुःख विशेष की घोर अनुभूति ही नरक है। ऐसी स्थिति में - स्वर्गकामी यजेत- का अर्थ सार्थक हो जाता है। हमें अपने चारों ओर स्वर्गमय लोक, स्वर्ग का मण्डल व परिधि यज्ञ के अनुष्ठानों से निर्मित करके पृथिवी को स्वर्ग बना सकते हैं।

यज्ञ का विदेशों में प्रयोग

आज पृथिवी एवं अन्तरिक्ष, के आश्रय से अनेक सुख साधनों का विस्तार विज्ञान ने किया है - परन्तु उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अनेक नारकीय दुःखों और विपदाओं की बृद्धि भी चक्रवृद्ध रूप में स्वभावतः व्याप्त हो रही है। ऐसी स्थिति में विदेशों में यज्ञ के प्रति कुछ आकर्षण उत्पन्न हुआ- और यज्ञ का प्रयोगात्मक अनुसंधान कार्य अमेरिका व जर्मनी में तथा योरोप के अन्य राष्ट्रों में प्रारम्भ हुआ। परिणाम स्वरूप यज्ञ की उपयोगिता उत्तरोत्तर उनको ज्ञात होने लगी। यह परिणाम महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य, यज्ञ करने की प्रेरणा और आर्य समाज द्वारा यज्ञ परम्परा को प्रचलित करने से हुआ।

विविध संस्थाओं द्वारा यज्ञ पर अनुसंधान कार्य

आज देश-विदेश में कतिपय संस्थायें यज्ञ का कृषि पर, रोगों के निवारण पर, पर्यावरण शोधन, भूमि को उर्वरा बनाने, कृत्रिम खाद के बजाय यज्ञ के धूम व भस्म

का प्रसारण फसलों पर करके तथा वेद मन्त्रों की ध्वनि का कृषि की उत्पत्ति में १० से २० प्रतिशत वृद्धि तथा कहीं तो कई गुना अधिक लाभ अनुभव कर रही हैं। इनमें फाइव फोल्ड पाथ वाशिंगटन की शाखायें, न्यू वे आश्रम लोनावाला, सत्यधर्म प्रचार माधवाश्रम, भोपाल आदि संस्थायें यज्ञ की व्यावहारिक उपयोगिता का अनुसंधान कर रही है। कतिपय अन्य व्यक्ति भी यथा श्री नाना साहेब काले अग्निहोत्री आदि भी परीक्षणरत हैं।

वाशिंगटन में अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी

फाइव फोल्ड पाथ ने तो वाशिगटन में अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी स्थापित करके अमेरिका, जर्मनी, में तथा कतिपय अन्य देशों में तथा भारत में यज्ञ के परीक्षण किये हैं एवं अखण्ड यज्ञों के परिणामों को अत्युत्तम अनुभव कर रहे हैं। क्या ही अच्छा होता कि यदि आर्य समाज अपनी भी शक्ति वेदों के प्रचार एवं यज्ञ के व्यवहारिक पक्ष को संसार के उपकार के लिये प्रमाणित करने में अग्रसर होता।

आर्य समाज यज्ञों के अनुसंधान कार्यों को महत्व दें

आर्य समाज रूढ़िवादी पारायण यज्ञों के प्रदर्शनों में उलझ गया और यज्ञ जो वेद के विज्ञान को जानकर वेदों के विद्वानों के द्वारा होने थे वे साधुवेशधारी सन्यासी, महात्माओं के लिये स्वप्रतिष्ठा, अपने चेले निर्मण तथा धनोपार्जन का उपाय बन गये। उन ने अशुद्ध मन्त्र पाठ को निर्दोष प्रमाणित कर अज्ञान का ही प्रचार किया और यज्ञ के वैज्ञानिक अनुसंधान का मार्ग अवरूद्ध कर दिया। यज्ञों में व्यर्थ की बकवास के तथा रोचक शब्दों द्वारा जनता को प्रसन्न करने मात्र को प्रोत्साहन देकर वेदमन्त्रों के शुद्ध और सस्वर पाठ को तिरस्कृत कर दिया। अतः अन्य संस्थायें यज्ञ कार्य में आगे बढ़ गई हैं।

अन्य संस्थाओं तथा विदेशियों द्वारा यज्ञ कार्य में बढ़ना हमारी अकर्मण्यता के लिये चैलेंज

२ वर्ष पूर्व अमेरिका के फाइव फोल्ड पाथ (यज्ञ, दान, तप, कर्म और स्वाध्याय) के एक सदस्य इन्दौर में कालेजों में तथा अन्य संस्थाओं में यज्ञ पर व्याख्यान देने आये। मेरे यहा आकर उनने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त तथा त्र्यम्बकंयजा-महे० - आदि मन्त्र सस्वर तथा ऋग्वेद शैली से ही सुनाये। उनके उच्चारण में अत्यन्त शुद्धता थी। क्या हमारे लिये यह चैलेंज नहीं है। उनका ताबें का कुण्ड उनके साथ

था। दोनों समय उदय और अस्तकाल में यज्ञ करते थे। मेरे यहां भी उनने यज्ञ किया। ये महानुभाव यज्ञ का मनोवैज्ञानिक प्रभाव इस पर अनुसंधान कर रहे हैं और यज्ञ द्वारा अनेक मानसिक रोगों पर अच्छा प्रभाव अनुभव प्राप्त किया।

वेद एवं महर्षि दयानंद की विचारधारा ही स्वच्छ वैज्ञानिक नेतृत्वदाता है

३-४ वर्ष पूर्व अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी वाशिंगटन के संस्थापक तथा यज्ञ प्रचारक भारत आये हुए थे। उनका तार मुझे प्राप्त हुआ कि अमुक तारीख को मैं इन्दौर आप से मिलने आ रहा हूँ। नियत दिन वे आये तथा उनने मेरा वह सब काम जो वेद का अनेक रूप में किया है उसे देखा। भारत सरकार द्वारा यज्ञ से वर्षा कार्य के करने तथा वृष्टि यज्ञ की पद्धति जो मैंने भारत सरकार को सन् १६७६ में भेजी थी। उनकी १ १ प्रति ले गये। इसके अतिरिक्त वृष्टि विज्ञान का मेरा उपलब्ध साहित्य, वैदिक सम्पदा की प्रति भी ले गये तथा उनसे जो परिणाम यज्ञ के कृषि पर अमेरिका के परीक्षणों से ज्ञात किये उसके आधार पर यज्ञ की कृषि के लिये उपयोगिता के ५ परिपत्र (बुलेटिन) मुझे दीं। इस भेंट के बाद भी वे भारत में आते रहे और मेरे जो यज्ञ सम्बन्धी लेख मैंने उनके गुरु भाई श्री डॉ० एस० एन० सुपेकर, एम० एससी०, पी० एच० डी० को पूना भेजे थे, वे उनसे ले गये।

जर्मन में यज्ञ विज्ञान के प्रति उत्सुकता

पश्चिमी जर्मनी के एक जर्मन बर्थोल्ड मोनिकाजेहले यज्ञ की भस्म को अनेक रूप में चिकित्सार्थं प्रयोग करने का प्रचार करते हैं। मैंने यज्ञ सम्बन्धी अपनी एक अंग्रेजी की लघु पुस्तक-थ्रीमेन करेन्ट प्राब्लम्स एण्ड देयर सोल्यूशन थ्रू साइन्स आफ् यज्ञ-लगभग २ वर्ष उन्हें भेजी थी। उनका पत्र अभी दि० २७ अगस्त, १६८३ को प्राप्त हुआ। उनने लिखा कि उक्त पुस्तक का जर्मन भाषा में अनुवाद करने की आज्ञा प्रदान करें जिससे कौंसिल ऑफ् योरोप को भेज सकें। इसके पश्चात् मेरे एक यज्ञ सम्बन्धी लेखक का जो अगस्त में मैंने भेजा था उसके जर्मन भाषा के अनुवाद की भी प्रति भेजी। वह मेरा लेख था - यज्ञ ए वैदिक प्यूरीफिकेशन प्रोजेक्ट ऑफ् अँटमोस्फियर। इसके पश्चात् अभी अक्तूबर मास में अपने दो लेख जो इंजीनियर्स इंडिया की पत्रिका के विशेषांकों में छपे थे उनका भी अंग्रेजी अनुवाद कराकर भेजा है तथा एक और भी लेख भेजा है - जिनके निम्न शीर्षक हैं - (१) साइन्स ऑफ प्यूरीफिकेशन ऑफ एन्वायर्नमेंट इन एनशेन्ट इंडिया, (२) यज्ञ, रिसोर्स टु ए रिवोल्यूशनरी चेंज इन एग्रीकल्चर (३) दि पॉसीबिलिटी ऑफ कंट्रोल ओवर स्ट्रांग विन्डस स्टार्म, फ्लडस एण्ड ड्रॉटस।

यज्ञों के प्रचार का सुअवसर - आर्य समाज आगे बढ़े

दिनांक १६ सितम्बर, १९८३ को जर्मनी से श्री बर्थोल्ड का पत्र आया कि मैं संभवत: दिसम्बर मास में भारत आऊंगा तब इंदौर आकर यज्ञ के परीक्षणों एवं परिणामों को जानना चाहूंगा। अर्थात् आज योरोप, अमेरिका, जापान तथा पृथ्वी के सभी भागों में यज्ञ की व्यवहारिकता के प्रचलन करने से वेद और यज्ञ का प्रचार का अत्युत्तम अवसर है। आर्य समाज देश विदेश में अपनी यज्ञ की प्रयोगशालायें स्थापित कर संसार को प्रत्यक्ष लाभान्वित करने का महोपकार कर्म करने में अग्रसर हो तो आसुरी विचारों का भी दमन होगा और सर्वत्र सुख शान्ति होगी। पर्यावरण शोधन का, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आंधी-तूफान आदि उपद्रवों की शान्ति का एकमात्र उपाय यज्ञ ही है। यज्ञ से ही द्यौःशान्तिः होगी - यज्ञ से ही अन्तरिक्षं शान्तिः होगी तथा - पृथिवी शान्तिः - होगी और - सर्वशान्ति; होगी। तभी शान्तिदेव शान्तिः - की अनुभूति होगी और सामा शान्तिरेधि - अपने में भी शान्ति होगी - अन्यथा नहीं।

000

वैदिक रश्मि

सम्पादक - श्री रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उपकुलपति

पंचम रश्मि

अग्ने विवस्वदामर ।। सम०पू०मं० १०

संक्षिप्त अन्वयार्थ :—(अग्ने ! विवस्वत् आमर) हे प्रभो ! (तू हमें) ज्ञान दे ।

अन्वयार्थ :—(अग्ने ! विवस्वत् ! आभर) हे प्रभो ! तू हमें तमोनिवारक ज्ञान प्रदान कर ।

व्याख्या :- हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! हे ज्योतिः स्वरूप जगदीश्वर ! तू हमें "विवस्वत्" दे - प्रकाश - दे - ज्योति दे - ज्ञान दे । तू हमें वह विवस्वत् दे - वह प्रकाश दे - वह ज्योति दे - वह ज्ञान दे जो हमारे भीतर के कपाट खोल दे - जो हमारे भीतर के सर्वविध तम को छिन्न भिन्न कर दे - जो हमारे अन्दर के सर्वविध अविद्यान्धकार को हम से सर्वथा पृथक् कर दे ।

हे प्रभुवर ! आप की वह दिव्य ज्योति - आप का वह परम प्रकाश - आप का वह अनुपम आलोक हमारे उस तम को छिन्न भिन्न कर दे - हमारे उस अविद्यान्धकार को दूर कर दे जिस के कि हमारे भीतर विद्यमान रहने से उस अविद्या के साथ-साथ अस्मिता-राग-द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश भी बसने लगते हैं, फलने-फूलने लगते हैं । इन के भीतर वर्तमान रहने से सदा हमारे अन्दर अज्ञान रूपी कोहरा छाया रहता है, जिस के कारण से हमें अपने से भिन्न किसी और के अद्भुत व्यक्तित्व का आभास ही नहीं हो पाता । बस हम तब यही समझते रहते हैं कि मैं ही मैं हूं, हम ही हम हैं, हमारी ही हमारी सत्ता संसार में है, और सब तो मानों जैसे कुछ है ही नहीं । फिर जो हमारे अनुकूल होते हैं, उन से हमारा राग हो जाता है, और जो हमारे प्रतिकूल होते हैं, उन से हमारा द्वेष हो जाता है ।

१. विवस्वत्—विवासयति-पृथक् करोति तम इति विवस्वज्ज्योतिः ।

हृदय में राग-द्वेष के आते ही किन्हीं से तब हम अत्यन्त स्नेह करने लगते हैं और किन्हीं से हम अत्यन्त घृणा करने लगते हैं । आगे चलकर इसी राग द्वेष के कारण ही जिनसे हमें राग होता है, जिन से हमारा प्यार होता है, उन की हम सदा स्थान-स्थान पर

शंसा प्रशंशा करने लगते हैं और जिन के प्रति हमारे हृदय में द्वेष होता है उन की हम सदा जगह-जगह निन्दा चुगली आदि करते रहते हैं। जिन के प्रति हमारा तब राग होता है उन्हीं की सुख-सुविधाओं की हमें सदा चिंता रहती है, उन्हीं के खान-पान, रहन-सहन आदि का हम जी-जान से सदा ध्यान रखते हैं, और जिन के प्रति हमारे हृदय में द्वेष होता है उन की हमें कभी परवाह ही नहीं होती, उन की सुख-सुविधाओं की, खान-पान और रहन-सहन की हमें जरा भी कभी फिकर नहीं होती। जिन के प्रति हम में राग होता है उन्हीं के सुख-सौभाग्यों के लिये हमारे हृदयों से सदा आशीर्वाद निकलता है, सदा ये प्रार्थनाए निकलती हैं, कि—"प्रभु उन्हें लम्बी आयु दे, प्रभु उन्हें सदा सुख-सौभाग्यों से सम्पन्न रखे।" पर इस के विपरीत जिनके प्रति हमारे हृदय में द्वेष रहता है, उनके प्रति हमारे हृदय से सदा बुरा ही बुरा सोचा जाता है। फिर यदि और भी इस विषय में आगे बढ़ते हैं तो फिर हम अपनी हार्दिक भावनाओं को व्यवहार में लाकर अपने प्रियों के प्रति शुभ कर्मों के रूप में प्रवृत होते हैं और अप्रियों के प्रति हिंसक बनकर प्रवृत्त होते हैं। कई बार वैसे हमारे कोई द्वेष के पात्र नहीं होते। पर चूंकि वे हमारे प्रियजनों के मार्ग में वाधक होते हैं इसलिये हमारे मनों में उनके प्रति भी द्वेष हो जाता है, और तदनुसार मन वचन कर्म से उनके प्रति अप्रिय और कठोर व्यवहार भी होने लगते हैं। इस तम - इस अविद्या - इस अज्ञान के कारण ही हमें अपनी जान तो बड़ी प्यारी लगती है, अपने बन्धु-बान्धवों की जान भी बड़ी प्यारी लगती है। अतः हम और वे कहीं समाप्त न हो जाएं, यह अभिनिवेश- यह मृत्युरूप भय भी सदा हमारे भीतर वर्तमान रहता है। इस भय के कारण हमारा सदा हार्दिक प्रयास रहता है कि मैं न मरूं, हम कभी न मरें और न ही हमारे ये प्रिय व्यक्ति कभी मरें।

इस प्रकार जब हमारे भीतरतम-अविद्यान्धकार—अर्थात् अज्ञान अपना डेरा जमाए रहता है तो फिर उस समय हमें अतिकाम, अतिक्रोध, अतिलोभ, अतिमोह और अत्यहंकार आदि प्रिय लगते हैं। इस अतिकाम के कारण फिर हमें सदा विषय—वासनाओं में डुबे रहने में ही सुख अनुभव होता है। इस अतिक्रोध के कारण हमें सदा दूसरों के प्रति क्रोध करने, दूसरों के प्रति गुस्सा करने, दूसरों की मन वचन कर्म से हिंसा करने में सुख अनुभव होता है, सदा दूसरों को सताना और परेशान करना हमें अच्छा लगता है, सदा दूसरों को तबाह और बर्बाद करने में हमें खुशी होती है। इस अतिलोभ के कारण हम सदा लोभी होकर धन के पीछे सदा पागल से बने रहते हैं, और तब हम यह सोचने लगते हैं कि "धन आए, वह चाहे कैसे भी क्यों न आए। किसी की जेब काट कर आए, किसी की चोरी करके आए या किसी को मार कर आए, किसी को उजाड़ कर आए इत्यादि। अतिमोह के कारण हम किन्हीं व्यक्तियों पर मुग्ध होकर सदा यही सोचने लगते हैं कि—"ये हमारे बन्धु-बान्धव हैं, ये हमारे

परिवार के सदस्य हैं, ये हमारे अपने हैं, अतः इन से सदा हमारा लगाव रहता है। और हम तब यदि सोचते हैं तो फिर बस केवल उन्हीं के लिए सोचते हैं, उन्हीं के लिए दौड़-धूप करते हैं, उन्हीं की ही सुख-सुविधाओं की हमें सदा चिन्ता रहती है। ऐसी अवस्था में फिर जो कुछ भी हम से बनता है हम उनके लिये करते हैं। इतना ही नहीं इस अतिमोह के कारण ही फिर हम उनके लिये अनेकों पाप भी करते हैं, झूठ-सच भी बोलते हैं, अन्यों के प्रति अन्याय भी करते हैं, अन्यों की अवहेलना भी करते हैं, अन्यों का अपमान और तिरस्कार भी करते हैं, नहीं-नहीं हम उनके लिये अन्यों पर बड़े से बड़ा अत्याचार भी करते हैं, अन्यों को कष्ट भी देते हैं, अन्यों को यहां तक कि समाप्त भी कर देते हैं। रेल वा बस में ही देख लीजिए—कितना भी कोई वृद्ध वा कमजोर व्यक्ति क्यों न खड़ा हुआ हो, कितनी भी कोई वृद्धा—बड़ी-बूढ़ी मां क्यों न खड़ी हो गोद में लिये हुए बालक को कोई महिला बेचारी क्यों न खड़ी हो, परह मारे युवक समर्थ पुत्र को तो बैठने के लिये जगह मिलनी चाहिये, भले ही और को चाहे मिले न मिले। अपने प्रति अति मोह होने पर फिर हमें अपना समय तो बड़ा प्रिय, मूल्यवान् लगता है पर दुसरों का नहीं। उस समय शिष्टाचार और सद्-व्यवहार को हम बिल्कुल भूल जाते हैं पर फिर भी आश्चर्य यह होता है कि हम अपने को बड़ा ही सभ्य और बड़ा ही महान् समझते हैं। हमें उस समय यह तो सदा सूझता रहता है कि—"अमुक को चाहिये कि वह हमारे प्रति ऐसा-ऐसा व्यवहार करे। अर्थात् हम यदि रेल में खड़े हों तो वह हमें प्रेम से बैठने को जगह दें, ताकि हम भी थोड़ा सा बैठ लें और सहजरूप से यात्रा कर सकें। यद्यपि उस सीट पर चार के स्थान पर पांच बैठे हुए होते हैं तो भी हमें वहां जगह दिखाई देती है। पर उसी सीट पर स्वयं गाड़ी में हम कभी चार के स्थान पर तीन भी बैठे हुए होते हैं तो भी हमें सीट खाली नहीं दिखाई देती और न ही अगले व्यक्तियों की कठिनाई अनुभव होती है। इसी अविद्या के कारण हम सदा अहंकार में डूबे हुए मैं मैं और हम ही हम करते रहते हैं। हम कभी यह सोच भी नहीं पाते कि मेरे और हमारे अतिरिक्त भी कोई दुनिया में बसता है।

यह तो वह तम है,-वह अविद्यान्धकार है-वह अज्ञान रूपी कोहरा है जिस से कि मैं अपने अपनों के अतिरिक्त किसी और को देख नहीं पाता, अपने एवं अपनों के अतिरिक्त किसी और को कुछ समझ ही नहीं पाता, अपने एवं अपनों के अतिरिक्त किसी और के कष्ट वा असुविधा आदि का कुछ अनुभव कर ही नहीं पाता। अब जब इसी अज्ञान के कोहरे में हमें कोई इतना स्थूल व्यक्ति भी नहीं दिखाई पड़ता तो फिर भला वह निराकार सूक्ष्म से सूक्ष्म भगवान् कैसे दिखाई देगा, उसकी अनुभूति हमें कैसे होगी ? यही तो वह अविद्या है, यही तो वह तमोगुण का गहन अन्धकार है, जिसके कारण अस्मिता राग-द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश भी हमारे भीतर अपने पांव पसार लेते हैं और हमें तब सदा इन संसार की वस्तुओं व्यक्तियों और स्थानों में

उलझाए रखते हैं। यही हमें किसी व्यक्ति वस्तु और स्थान पर मरने मिटने के लिये सदा अहंकार वश अकड़ाए रहते हैं, सदा काम क्रोध और मोह आदि के चुंगल में फंसाए रहते हैं। फिर भला कैसे हम परमेश्वर की ओर बढ़ पा सकते हैं और कैसे उस के दर्शन पा सकते हैं। इसलिये हम तुझ उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—"हे प्रभु ! तू हमें विवस्त् दे-तू हमें ज्ञान दे-तू हमें प्रकाश दे-तू हमें ज्योति दे-तू हमें तेज दे-तू हमें ओज दे। और ऐसा दे कि जिस से हमारा यह भीतर का तम-अज्ञान छूट जाये-यह भीतर की अविद्या छिन्न-भिन्न हो जाए। इस तम-अविद्या के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हमारे भीतर विद्या का-ज्ञान का पूर्णतया प्रकाश हो जायेगा। इस से फिर हमारे भीतर अस्मिता नहीं रहेगी-अहंकार नहीं रहेगा। अर्थात् तब हम यह नहीं समझेंगे कि केवल मैं ही मैं हूं या केवल हम हम ही हैं इत्यादि। वरन् हमें तब यह भली-भांति भासने लगेगा कि मेरे और हमारे अतिरिक्त भी अनेकों हैं। अर्थात् हमें तब मैं और हम के साथ तू-तुम और आप दिखाई देने लगेंगे। हमें तब अपने समान उनकी भी असुविधाएं कष्ट और आपत्तियां दिखाई देने लगेंगी। सचमुच उस समय फिर हमारे हृदय में न किसी के प्रति राग होगा, न किसी के प्रति द्वेष होगा, न कोई हमें तब अपना दिखाई देगा और न ही कोई हमें तब पराया प्रतीत होगा। हमें तो तब कवि के शब्दों में "सभी हैं अपने और सभी पराए" प्रतीत होंगे। अब जब जग में हमारे हृदय में किसी के प्रति जब राग ही नहीं रहेगा तो फिर कब भला हम उससे चिपटे रहना चाहेंगे या उसको अपने साथ-साथ सदा बनाए रखना चाहेंगे। इसी प्रकार फिर किसी व्यक्ति, वस्तु वा स्थान के प्रति जब हमारे हृदय में द्वेष ही नहीं रहेगा तो फिर किस वस्तु व्यक्ति या स्थान से हम पृथक् होना चाहेंगे व किस को हम अपने से पृथक् करके फेंकना चाहेंगे। उस समय तो फिर स्थिति यह हो जायेगी कि हमारा अपने प्रति भी तब न राग रहेगा, न द्वेष रहेगा। अब जब हमारे हृदय में अपने प्रति भी राग नहीं रहेगा तो फिर हमारे हृदय से यह अभिनिवेश नाम का क्लेश अर्थात् मृत्यु का भय भी सदा-सदा के लिये विदा हो जायेगा। और हम तब मस्ती में आ कर कवि के निम्न शब्दों को गुनगुनाते लगेंगे—"न कोई है अपना, न कोई पराया, सभी हैं अपने, सभी पराए"। तब यदि हम प्यार करना चाहेंगे तो सभी के साथ समान रूप से करेंगे, न्याय भी सब के साथ कर सकेंगे। तब हमें अपने समान दूसरों का सुख भी अपना ही सुख और दूसरों का दुःख भी अपना ही दुःख प्रतीत होगा। तब हमें अपने समान दूसरों की सुविधा भी अपनी सुविधा लगेगी, अपने समय के समान दूसरों का समय भी मूल्यवान् ही प्रतीत होगा, तब हमें दूसरों की जान भी अपनी ही जान जैसी लगने लगेगी, दूसरों का हृदय भी अपने ही हृदय जैसा अनुभव होगा, दूसरों का घाव भी अपने घाव जैसा लगेगा, दूसरों की पीड़ा भी अपनी ही पीड़ा जैसी प्रतीत होगी। तब हम जब दूसरों को रेल में कष्ट में देखेंगे तो फिर अपनी भरी हुई सीट भी (भीतर के न्याय और प्रेम से) खाली-खाली सी प्रतीत होगी। और फिर

हम बड़े प्यार से कहेंगे कि—"भाई साहब ! आप भी बैठिये, बहिन जी ! आप भी बैठिये, मां जी ! आप भी बैठिये...... ।" यद्यपि अगले ऐसा भी कहेंगे कि—"नहीं भाई साहब ! हम खड़े ही ठीक हैं, हमारे बैठने से आपको कष्ट होगा, आपके इन नन्हें-मुन्ने बच्चों को कष्ट होगा...... ।" पर फिर भी हम कहेंगे—"भाई साहब ! आप चिन्ता न करें, हमें कोई कष्ट नहीं होगा। बच्चे तो इसकी मां ही गोद में ले लेगी। जब आप यहां हमारे पास बैठ जायेंगे और हमारी तरह जब आपको भी कुछ सुख मिलने लगेगा, कुछ आराम मिलने लगेगा तो उस समय तो हमें सुख मिलेगा उसमें तब ये सारे कष्ट ऐसे विलीन हो जायेंगे कि फिर उनका कुछ हमें पता ही नहीं रहेगा। हमारी तो उस अवस्था में फिर ऐसी स्थिति होगी कि जिधर को हम चल पड़ेंगे उधर ही हमारी राह बन जायेगी, उधर ही के सब व्यक्ति तब हमें अपने ही अपने दिखाई देने लगेंगे, उधर के सब घर हमें तब अपने ही घर प्रतीत होने लगेंगे, उधर की सब भूमियां (खेत-खलियान आदि) तब हमें अपनी ही सब भूमियां प्रतीत होने लगेंगी, उधर की सब बेटियां-बहिनें और माताएं तब हमें अपनी ही बेटियां-बहिनें और माताएं लगेंगी। हमें तब ऐसा लगेगा कि जैसे वे सब ग्राम, नगर वा जनपद आदि परिचित से हों, जैसे सभी पथ परिचित से हों, सभी गलियां मुहल्ले परिचित से हों, जैसे सभी घर परिवार के सदस्य परिचित से हों। और फिर हम उनके समीप पहुंच कर ऐसा अनुभव करेंगे जैसे कि वे सब लोग हमारे युग-युगान्तरों से मानो बन्धु-बान्धव ही चले आ रहे हों। हम सचमुच तब उन में ऐसे खो जायेंगे-ऐसे एक हो जायेंगे जैसे कि हम में केवल शरीरों का तो पार्थक्य रह जायेगा पर मनों का नहीं। हमें तब सारा संसार ही एक प्रकार से अपना परिवार सा लगेगा और उसमें सभी व्यक्ति भी अपने भाई बहिन सखा मित्र आदि प्रतीत होने लगेंगे। परन्तु यह सब कुछ होते रहने पर भी अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष आदि के हृदय से विदा हो जाने के कारण जब हम आंख मूंद कर बैठेंगे तो तब ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि वे सब उस हमारे परम प्यारे और सब जग से न्यारे प्राणप्रिय प्रभु में ही कहीं समा गए हों। क्योंकि वहां तो न फिर हमें कोई भूलता है और न ही फिर हमें किसी की याद आती है। सभी द्वन्द्व-सुख-दुख, हानि-लाभ, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, राग-द्वेष, जन्म-मरण आदि उसी में विलीन हो जाते हैं। फिर तो मैं जिधर ही देखता हूँ उधर ही उधर मुझे ज्योति ही ज्योति प्रतीत होती है, द्युति ही द्युति-प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। यत्र तत्र सर्वत्र सुख ही सुख, शान्ति ही शान्ति, अनान्द ही आनन्द अनुभव होता है। तब मैं बड़ी दूर-दूर तक निहारता हूँ तो मुझे उसके अतिरिक्त कुछ और दिखाई ही नहीं देता। इसी मध्य में जब कि में अपने प्रियतम में कुछ डूबा हुआ सा रहता हूं तो मेरे इन कानों में कहीं से हलकी सी यह भनक सी पड़ जाती है–किसी की मन्द सी ध्वनि सी सुनाई दे जाती है कि –"कहां है तेरा वह प्रियतम प्रभु ?"......" तब मैं सहज ही झट बोल

उठता हूं कि—"ओ भोले ! यह बता कि कहां नहीं है मेरा प्रियतम प्रभु ?"......" सचमुच मुझे तो तब सर्वत्र वही प्रभु ही भासता है, ऐसा लगता है जैसे तब सारा संसार मेरी आंखों से ओझल हो गया हो। फिर न ही हमारे समीप कोई आता है और न ही हमारे से कोई विदा होता है। कविवर रहीम के शब्दों में तब मेरी कुछ ऐसी ही स्थिति सी हो जाती है—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छवि कहां समाए।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर आए॥

("वैदिक रश्मियां" पृ० २६ से ३६ तक से उद्धृत्)

— 0 —

८ अक्तूबर ४७वीं पुण्य तिथि के अवसर पर प्रेमचन्द साहित्यकारों में मजदूर

डा० भवानी लाल भारतीय
अध्यक्ष दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़

एक प्रसंग में महान् कथाकार प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी शिवरानी देवी से कहा- "रानी, मैं तो मजदूर हूं, लिखना मेरा धर्म हैं, यही मेरी मजदूरी है, इसी में मुझे संतोष है। प्रेमचन्द जी के सुप्रसिद जीवनी लेखक श्री मदनगोपाल ने भी स्वलिखित जीवन चरित में उन्हें कलम का मजदूर कह कर ही सम्बोधित किया है। जिस समय हिन्दी कथा साहित्य में देवकी नन्दन खत्री के तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासों ने पाठक समुदाय को एक प्रकार के विस्मय लोक में भेज रखा था, गोपाल राम गहम्री के जासूस विभिन्न प्रकार के अपराधों की छान बीन में मशगूल थे। तथा किशोरी लाल गोस्वामी के शृंगार रस प्रधान उपन्यासों में प्रबल पाठक वर्ग ऊब चुका था, उस समय जनता के कलाकार, भारत के वास्तविक जन जीवन के चितेरे प्रेमचन्द का आविभाव हिन्दी के साहित्याकाश में हुआ। हिन्दी कथा साहित्य को रहस्य रोमांच तथा रोमानी वातावरण से मुक्त कराने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है।

प्रेमचन्द के लिये लेखन का कार्य, मात्र जीवन यापन का एक साधना न होकर, एक पुनीत तपस्या थी, जिसके माध्याम से वे लोकहित तथा समाज का उत्थान करना चाहते थे। साहित्य में वे आदर्श को महत्व देते थे, किन्तु जीवन की यथार्थ, कटु परिस्थितियों को झेल कर उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि मात्र आदर्शवाद ही पर्याप्त नहीं है। जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने अन्यतम मित्र जैनेन्द्र से उन्होंने कहा था - "आदर्श से काम नहीं चलेगा," और जब जैनेन्द्र ने वात बढ़ानी चाही तो उन्हें रोक कर प्रेमचन्द ने कहा– "बहस न करो," और उन्होंने करवट लेकर आंखें मूंद ली थी इस प्रकार आदर्शवाद से ही संतुष्ट न रह कर प्रेमचन्द ने यथार्थवाद की उपयोगिता को भी अपते जीवन काल में ही स्वरकार कर लिया था। इन दोनों का सुखद समन्वय कर उन्होंने एक नवीन साहित्यक पारिभाषिक शाब्द को गढ़ा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद। वस्तुतः प्रेमचन्द का सम्पूर्ण कथा साहित्य भारत के जनजीवन की एक बदुरंगी झांकी है। जिसमें अंधा भिखारी सूरदास है तो कृषक वर्ग का प्रतिनिधि होरी

भी औपन्यासिक पात्रों के इस वृहद् समुदाय में जमींदार और कारिंदे, पटवारी और लम्बरदार, पण्ठे और पुजारी, हिंदू, मुसलमान और ईसाई, ग्रामीण बनिये और खोंचे वाले, चमार और पासी विभिन्न वर्गों के लोग अपना वैशिष्ट्य लिये उपस्थित हैं।

प्रेमचन्द ने भारत के जन जीवन को, विशेषतः निम्न और निम्न मध्य वर्ग को निकटता से देखा था। वाराणसी के निकट लमही नामक एक देहात में उनका जन्म ३१ जुलाई १८८० को मुन्शी अजायब लाल के घर पर हुआ था जो डाकखाने में मामूली कलर्क थे। जिस समय पिता ने असमय में ही दुनियां से प्रस्थान किया तो उन्होंने अपने बड़े पुत्र धनपतराय पर, उसके अपरिथक्व सांसारिक अनुभवों के बावजूद एक बड़ी गृहस्थी का बोझ डाल दिया था। उतका अध्ययन व्यवस्थित रूप से नहीं हो सका। विभिन्न आर्थिक कठिनाइयों से जूझते हुए वे शिक्षा विभाग में अध्यापक की नौकरी प्राप्त करने में सफल हो सके, परन्तु अपने अध्यवसाय के बल पर उन्होंने बी.ए. की परीक्षा भी उतीर्ण की और अध्यापक का प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त वे संयुक्त प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के विभिन्न जिलों में अध्यापक तथा बाद में सब डिप्टी इन्सपैक्टर के पद पर रहे।

कथा साहित्य के प्रति प्रेंमचन्द का आकर्षण विद्यार्थी काल में ही हुआ। वे अपने एक मित्र के पिता की तम्बाकू की दुकान के पिछवाड़े तम्बाकू के बोरों पर बैठ जाते और उर्दू के वृहत् उपन्यास "तिलिशम होशरूबा" के पत्रों में खो जाते। इसी दौरान उन्हें बंकिम तथा रवीन्द्र की कथाकृतियों को भी उर्दू के माध्यम से पढ़ने का अवसर मिला। इस प्रकार प्रेमचन्द के भीतर का सुप्त कथाकार जाग उठा और अवसर मिलने पर उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के उष्मायुक्त वातावरण से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी उर्दू कहानियों का जो प्रथम संकलन प्रकाशित किया, उसका नाम था "सोजे वतन"। सरकारी नौकरी में रहते हुए प्रेमचन्द के लिये यह सम्भव नहीं था कि वे राष्ट्रीय भावों आल्पावित इस कथा संग्रह को अपने वास्तविक नाम से ही प्रकाशित कराते। उन्होंने "नबावराय" के नाम से उर्दू फसानों की इस पुस्तक को छपाया, किंतु शासकों को शीघ्र ही इस बात का पता चल गया कि क्रान्ति और विद्रोह की चिनगारियां बिखेरने वाली इस पुस्तक का लेखक और कोई नहीं, एक मामूली मुदर्रिस है।

शीघ्र ही प्रेमचन्द उर्दू से हिंदी में आ गये। उनका प्रथम उपन्यास सेवा सदन पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुका था। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकता से प्रकाशित, वेश्या जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने वाली इस कथाकृति की भूमिका सुप्रसिद्ध समालोचक पं० पध्म सिंह शर्मा ने लिखी थी। प्रेमचन्द का सुधारवादी स्वर उनके भावी उपन्यासों में क्रमशः प्रस्पुटित होता गया। प्रेमाश्रम में भारत के कृषक समुदाय की दुखस्था का तो चित्रण हुआ हैं, साथ ही रूस में हुए महान् सामाजिक

परिवर्तन को लक्ष्य में रख कर युवा किसान बलराज के द्वारा भारत के किसान वर्ग में भी आशा की एक क्षीण ज्योति उद्धीप्त होती दिखाई गई है। प्रेमचन्द ने समाज-सुधार का केवल मौखिक आस्थान ही नहीं किया था, अपितु उन्होंने एक विधवा शिवरानी से विवाह कर इसे क्रियान्वित भी किया। उनका उपन्यास "प्रतिज्ञा" विधवा विवाह की समस्या पर ही केन्द्रित है। उपन्यास का प्रारम्भ आर्यसमाज मंदिर में प्रस्तुतः की गई विधवा विवाह समर्थक वृत्रता से होता है जिससे प्रभावित होकर नायक अमृतराय स्वयं किसी विधवा से विवाह करने की प्रतिज्ञा करता है।

प्रेमचन्द की प्रथम हिन्दी कहानी "नमक का दारोगा" १९१६ में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। उनका प्रथम हिन्दी कहानी संग्रह सप्रसरोज भी इसी बीच प्रकाशित हुआ। यद्यपि लेखन को प्रेमचन्द ने जीविका निर्वाह के साधन के साथ-साथ एक मिशन के रूप में अपनाया था, किन्तु उनकी आर्थिक कठिनाइयां कभी कम नहीं हुई। सरकारी नौकरी से स्वैच्छिक अवकाश लेकर वे कुछ समय तक लखनऊ से प्रकाशित होने वाली 'माधुरी" के सम्पादक रहे, अन्ततः उन्होंने स्वय बनारस में सरस्वती प्रेस की स्थापना की और हंस मासिक तथा जागरण साप्ताहिक का सम्पादन किया जो अनेक आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी प्रकाशित होते रहे। आर्थ दुखवस्था को दूर करने के विचार से ही प्रेमचन्द एक बार चलचित्र जगत के लुभावने पन से आकृष्ठ होकर अजज्ता मूवीटोन की सेवा स्वीकार कर बम्बई भी गये, परन्तु उन्हें शीघ्र ही अनुभव हुआ कि सिनेमा का वातावरण उनके जैसे गम्भीर एवं आदर्शवादी प्रकृति के साहित्यकार के लिये उपयुक्त नहीं हैं।

निर्मला नारी जीवन की दुखद गाथा के पश्चात् प्रेमछन्द का वृहद् महाकाव्य धर्मी उपन्यास रंगभूमि प्रकाशित हुआ। चौडाने हस्ती के नाम से प्रेमचन्द ने इसका स्वंय ही उर्दू रूपान्तर भी किया गया था। इसमें एक और ग्रामीण जीवन का परि दृश्य उपस्थित किया गया तो दूसरी ओर व्यवसायियों एवं जमींदारों के शोषक रूप का भी परिचय किया गया है। अंधे भिखारी सूरदास के माध्यम से लेखक ने स्वंय के जीवन दर्शन को ही उपस्थित किया है—"वह खिलाडी जिसने मोर्चे पर कभी मार नहीं खाई, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाया, जीता तो प्रसन्न चित रहा, हारा तो जीतने वालों से गिला नहीं किया, जीता तो हारने वालों पर तालियां नहीं बजाई। जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धांधली नहीं की, कभी प्रतिद्वन्द्वी पर छिप कर चोट नहीं की"।

यही तो प्रेमचन्द का सरल व्यक्तित्य था जिसके कारण वे समकालीन भारतीय साहित्कारों में सम्मानित हुए और विश्व कथाकार की श्रेणी में आये। भारतीय साहित्य

परिषद् का गठन कर उन्होंने सभी भारतीय भाषाओं के लेखकों को एक मंच पर लाने का प्रयास किया। महात्मा गांधी के आर्शीवाद तथा कन्हैया लाल मुन्शी जैसे साहित्यकारों के सहयोग से इस कार्य में उन्हें सहायता मिली। हंस को भारतीय साहित्य परिषद का मुख पत्र बनाया गया। शीघ्र ही प्रेमचन्द को शोषित, पीषित और पददलित मानव जाति के बंधु के रूप में अभिनन्दन मिला। उनकी जन्म शताब्दी अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर मनाई गई। विदेशी भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद हुए। रूस के कथाकार मैक्सिम गोर्की के समकक्ष सम्मान उन्हें रूस में भी मिला। ४७वीं पुण्य तिथि के अवसर पर इस महान् रचनाधर्मी साहित्यकार का स्मरण प्रेरणादायी है।

000

राष्ट्रभाषा समस्या और राजनीति,

(डा० भगवान देव पाण्डेय)
एम०ए०, पी० एच० डी०
प्रवक्ता हिंदी—विभाग

राष्ट्रभाषा राष्ट्रीय-संस्कार की जननी होती हैं। इससे राष्ट्रीय भावना का पोषण होता है तथा जनमानस की वृत्तियों में तादात्मय संबंध स्थापित किया जाता है। भाषा राष्ट्र का आवश्यक तत्व हैं। भाषा से ही भौगोलिक एवं सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त होती है। भाषा ने ही राजनीतिक एकता की भावना का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

भारतवर्ष में वैदिक काल से ही राजनीतिक एकता की भावना का उल्लेख मिलता है। चक्रवर्नी सम्राट बनने की भावना राजनीतिक संगठन की परिचायिका है। यह भावना चक्रवर्ती भारत से प्रारम्भ हो कर उत्तरोत्तर विकसित होती रही। कालक्रमानुसार विभिन्न राज्य प्रणालियाँ राजनीतिक एकता में क्रियाशील रहीं। इस एकता की प्रवृति का वास्तविक शुभारम्भ चन्द्रगुप्त मौर्य से होता है। चन्द्रगुप्त ने समस्त उत्तर भारत को एक राज्य के सत्र में पिरो कर और उसके पौत्र अशोक ने सम्पूर्ण भारत को एक राज्य के अधीन किया जिससे कि इस राजनीतिक एकता से राष्ट्रीय एकता को बल मिला। आगे चल कर गुप्तकाल में प्रत्येक प्रदेश साहित्य, कला, शिल्प एवं भाषा की दृष्टि से स्वतंत्र होकर राजनीतिक दृष्टि से एकसंघीय रूप के अधीन एक राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हुआ। हर्षवर्द्धन ने उत्तर भारत में शासन स्थापित करके देश को एक सूत्र में बांध रखा। हर्ष के बाद देश में कई सदियों तक राजनीतिक विघटन की भावना प्रवल रही फिर भी अनेक आचार्यों एवं मनीषियों मे धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय एकता को स्थापित रखा। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर दसवीं शताब्दी के अन्त तक का भारतीय राजनीतिक इतिहास अंधकार पूर्ण रहा है। मुस्लिम आक्रमण एवं सल्तनत की स्थापना के बाद से भारतीय इतिहास में राजनीतिक गठन का युग प्रारम्भ होता है। बाद में मुगल साम्राज्य के शासनकाल में हमारे देश में राजनीतिक गठन के साथ सांस्कृतिक पुनरुत्थान काल का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चल कर अंग्रेजों के शासनारुढ़ हो जाने के बाद उनके द्वारा फैलाई गई दुर्भावना से प्रतिक्रियात्मक रूप से राष्ट्रीयता की भावना

विशेष बलवती हुई। स्वतंत्रता की प्रवल भावना ने सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में संगठित होने की इच्छा जागृत की।

समय समय पर इस देश में विभिन्न जातियों के लोगों ने पदार्पण किया पर वे भारतीय संस्कृति के साथ इस प्रकार एकाकार हो गये कि उन्हें अलग से पहचानना भी कठिन हो गया। वही देश सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत एवं शक्तिशाली होता है जो अनेकानेक संस्कृतियों को आत्मसात् कर ले। भारत इनमें प्रमुख है। भारतीयों की संस्कृति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण एवं समस्या समाधान का एक ढंग है। राजनीतिक दृष्टि से यहां के शासन-प्रबंध में अनेक परिवर्तन हुए पर लोक-जीवन की आन्तरिक एकरूपता सर्वदा कायम रही। भारत की भाषा संबंधी ऐतिहासिक परम्परा की ओर दृष्टि डालने से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं की पोषक है इसीलिये यहां की भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहने वाली भाव धारा एक है। भारत की राष्ट्रीयता के संबंध में डॉ0 रामविलास शर्मा का कथन बिल्कुल सत्य है :-

"हमारी राष्ट्रीयता केवल अंग्रेजों का विरोध करने के यिये नाकारत्मक रूप से किंही विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न नहीं हो गयी। उसकी जड़ें हमारी ऐतिहासिक और आर्थिक परम्पराओं में बहुत गहरी पैठी हुई हैं।" (राष्ट्र भाषा की समस्या पृ० १८०)।

राष्ट्र भाषा का प्रश्न आरम्भ से ही राजनीतिक चालों में फंस कर रह गया। साहित्य सत्य की अभिव्यक्ति है। हिन्दी आरम्भ से ही इस सत्य को प्रकट करती आई है। स्वाधीनता संग्राम में हिन्दी, उसके पत्र एवं पत्रकारों, साहित्यकारों ने अग्रणी रह कर जिस प्रकार का योगदान किया था, इतिहास इसे भुला नहीं सकता। आज़ादी से पूर्व यह भाषा एक संस्कार ही नहीं, अपितु संघर्ष को जारी रखने का प्रमुख अस्त्र थी और बाद में चल कर वह राजनीतिक हथकण्डों, प्रान्तीय क्षुद्रताओं और आपसी द्वेष के कारण उपेक्षित सी पड़ी हुई है।

हमारे देश में राष्ट्र-भाषा हिन्दी की समस्या एक ज्वलंत समस्या है। राष्ट्र-भाषा का पद मिलने के ३५ वर्षों बाद भी आज हिन्दी की स्थिति शोचनीय है। राष्ट्र-भाषा होते हुए भी वह सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा नही बन सकी है। जहां पर छोटे-छोटे देश मृतप्राय अपनी-अपनी भाषा को लेकर उठ खड़े हुए हैं और सारा काम-काज अपनी राष्ट्र भाषा में चलाते हैं, वही यह एक ऐसी विडम्बना है कि भारत अभी तक ऐसा नहीं रह सका है। सरकारी स्तर पर इसको सर्वभाषा बनाने के लिये कुछ कदम उठाये भी गये लेकिन आज भी वह सरकारी काम-काज में उपेक्षित सी ही है। राष्ट्रभाषा

होते हुए भी क्षेत्रीय भाषायें अपने क्षेत्रों में उससे कहीं अधिक लोकप्रिय हैं और राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी का वर्चस्व यथावत् बना हुआ है। राष्ट्रभाषा हिन्दी पर अंग्रेजी इस प्रकार "हावी" हो गयी है कि यहां के लोग अंग्रेजी को ही हिन्दी समझने लगे हैं।

आज का समाज दैनिक वोलचाल में आधे से अधिक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करना गर्व की वात समझता है। आज के शिक्षित लोगों में यह ग़लतफहमी घर कर चुकी है कि अंग्रेजी सभ्यों की भाषा है और हिन्दी गंवारों की। अपने हृदय में राष्ट्र-भाषा के प्रति श्रद्धा रखकर ही अंग्रेजी भाषा का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करना उचित कहा जा सकता है। लेकिन लगता है कि हजारों वर्षों की गुलामी ने हमारे हृदय में राष्ट्रीयता की भावना को ही धूमिल कर दिया है। आज भी हम मानसिक दासता से मुक्त नहीं हुए हैं।

हिन्दी शासन नियंत्रकों एवं राजनेताओं के चुंगल में फंस कर विवश हो गयी है। अंग्रेजी केवल थोड़े से आभिजात्य वर्ग के सम्पर्क की भाषा है और वहीं तक सीमित रहेगी। यह वर्ग जो राष्ट्र का नियंत्रक है, अंग्रेजी के प्रभाव को समाप्त होता हुआ नहीं सहन कर सकता क्योंकि अंग्रेजी के प्रभाव में ही उनका प्रभाव निश्चित है। ऐसे ही अल्प एवं अल्पज्ञ लोग यह कहते हैं कि हिन्दी अभी समृद्ध भाषा नहीं हो पायी है। राष्ट्रभाषा का नुकसान राजनीतिज्ञ भी कर रहे हैं, क्योंकि ये राजनेता सदैव भाषा को ही चोट की राजनीति बनाते आ रहे हैं। यही कारण है कि भाषा-विवाद को ले कर देश में जब तब आन्दोलन हुए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के आरंभिक १५ वर्षों तक ही संविधान में अंग्रेजी को छूट थी। उसके बाद यह निश्चित था कि हिन्दी स्वयं देश की भाषा बन जायेगी और सभी सरकारी, ग़ैर सरकारी कार्यों में प्रमुख रूप से हिन्दी का प्रयोग किया जायेगा। पर अब स्थिति यह है कि अब यह कहा जा रहा है कि हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जायेगी और सच्चाई यह है कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होते हुए भी हिन्दी को न तो वह स्वरूप ही प्रदान किया गया और न ही राष्ट्रभाषा के रूप में वह सम्मान मिला जोकि एक राष्ट्र-भाषा को मिलना चाहिए। इसके बदले में आज प्रत्येक हिन्दी भाषी नागरिक पर अंग्रेजी थोपी जा रही है।

भाषा विचाराभिव्यक्ति का साधन मात्र ही नहीं अपितु वह शक्ति है जिस के माध्यम से राष्ट्र विश्व के मानचित्र पर अपनी गरिमा प्रतिष्ठित करता है। विदेशी भाषा का मोह एवं उसकी प्राथमिकता, शब्द-भण्डार की समस्या, व्याकरण की जटिलता, भाषा को साहित्य के साथ मिलाकर देखने की प्रवृत्ति और उसके क्लिष्टता का एहसास आदि ऐसे मिथ्या दोषारोपण हैं जिसके कारण ही राष्ट्र भाषा हिंदी का अनादर हो रहा है। ये जितनी समस्यायें दिखायी जाती हैं वे हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी में

सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी सबसे अधिक अवज्ञानिक है, जब कि हिंदी बहुत अधिक वैज्ञानिक। अगर हिंदी में अत्यधिक कमियां हैं और वह अग्राह्य है तो चेकोस्लावाकियाई विद्वान् द्वारा भारतीय प्रधान मंत्री को प्रस्तुत किया गया उनका हिंदी-काव्य-ग्रन्थ किसका परिचायक है।

राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर जितना विवाद और संघर्ष हमारे देश में हो रहा है उतना किसी भी देश में देखा नहीं गया। विश्व के अन्य समृद्ध देशों ने भाषा भेद के कारण राष्ट्रीय एकता पर किसी प्रकार का संकट नहीं आने दिया। सोवियत संघ में प्रत्येक प्रांत का गठन ही भाषा के आधार पर हुआ है पर वहां की राष्ट्र भाषा रूसी है। इस्रायल ने मृतप्राय; भाषा "हिब्रू" को अपना कर उसे नया जीवन प्रदान किया है। क्या ये आदर्श हमारे सामने नहीं हैं? आज राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदी की जो दुर्गति हो रही है वह स्पष्ट है। सरकारी कागजों में भले ही हिंदी राष्ट्र एवं राज भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो पर व्यवहार में आज भी अंग्रेजी भाषा का आधिपत्य है। अंग्रेजों के प्रभुत्व ने हिन्दुतान की ही नहीं, हिंदी को भी पददलित किया है। वर्षों के अंग्रेजी शासन की दासता ने "शिक्षित नौकर" उत्पन्न करके हिंदी-भाषा को इस सीमां तक घायल कर दिया है कि उसकी सिसकन आज भी नहीं गई है, जिसके परिणाम स्वरूप हम पर अंग्रेज़ियत का नशा छाया हुआ है। अंग्रेजों ने अपने शासन काल में जितना शोषण, दोहन किया है अंग्रेजी उससे भी अधिक अपनी क्रूरता की अमिट छाप छोड़ेगी। हिंदी को राष्ट्र-भाषा का पद इसलिये दिया गया कि हिंदी जानने एवं बोलने वालों की संख्या अन्यों की अपेक्षा अधिक है। हिंदी-भाषा ही एक मात्र भाषा है जो सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता के सूत्र में बांध सकती है। इस बात का समर्थन सभी स्वतंत्रता-संग्राम सेनानियों ने भी किया था। दूसरी बात यह थी कि हिंदी-भाषियों की संख्या अधिक होने से कम से कम व्यक्तियों को हिंदी सीखनी पड़ेगी पर यह आज तक अपने पद को नहीं पा सकी।

हिंदी आरम्भ से ही विवाद का विषय रही है। प्राय; इसकी समृद्धि पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है। पर यह सत्य है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिंदी में उल्लेखनीय साहित्य का सृजन हुआ है। रचनात्मक विधाओं में हिंदी साहित्य वहुत प्रगति कर रहा है। कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में हमारी उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी हिंदी भाषियों में बहुत कुछ कमियां हैं। न तो हम में अपनी भाषा के प्रति आस्था है और न अपने साहित्य के बहुमुखी विकास के लिये प्रतिबद्धता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अपने साहित्य के प्रति आत्मश्रद्धा उत्पन्न की जाये।

साहित्य समाज का दर्पण होता है और साहित्यकार समाज के सजग प्रहरी। रचनायें शून्य से नहीं निकलतीं बल्कि उसमें कृतिकार के प्राणों का उभार होता है। इस बात को प्रत्येक काल के साहित्य में देखा जा सकता है। हिंदी साहित्य के विकास के लिये हिंदी-भाषी प्रदेश के लोगों को अपनी भाषा के प्रति अपेक्षित स्वाभिमान जगाना होगा। हिंदी के एक राष्ट्रीय रंगमंच की परिकल्पना को साकार करने की दिशा में अनुवादों के माध्यम से भी बहुत महत्वपूर्ण काम किया जा रहा है। आरम्भ में रंगमंच के माध्यम से हिंदी का प्रचार प्रसार किया गया लेकिन आगे चल कर यह भी व्यावसायिक बन गया। इसमे बहुत से अहिंदी भाषी निर्देशक घुस आये जो हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक संवेदना और भाषा की विशिष्ट प्रभावकारी अभिव्यंजनाओं से अपरिचित रहे हैं जिसके कारण उनकी नाट्यरचनाओं में सौन्दर्य मूलकता अथवा शिल्पगत निपुणता के बावजूद, एक प्रकार का अजनबीपन, अभिजात अलगाव और अंग्रेजियत को ही असली आधुनिकता या अभिजात्य समझते हैं, इसलिये अपने कार्यों में उसकी कुछ निशानी और अपनी कुछ अलग पहचान बनाये रखना चाहते हैं। यहां यह स्पष्ट है कि ये लोग हिंदी का व्यावसायिक प्रयोग करते हैं। इस भाषा से न तो कोई लगाव है और न उसके प्रति कोई सम्मान।

साहित्य सामाजिक उत्पादन है और साहित्यकार सामाजिक प्राणी। हम साहित्य के माध्यम से ही समाज का चित्रण करते हैं। अत: इस सम्बंध में हमारा उत्तरदायित्व कम महत्वपूर्ण नहीं होता। उत्तरदायित्व का निर्वाह न करने से हम साहित्यिक प्रगति के बाधकों से कम दोषी नहीं हैं। आज न हमारी शिक्षा व्यवस्था साहित्यिक संस्कारों के विकास की ओर ध्यान दे रही है और न राज्य की ओर से ही कोई सुनियोजित सांस्कृतिक नीति ही कार्यान्वित की जा रही है। शिक्षकों की अज्ञानता भी इन कारणों में जुड़ी हुई है। शिक्षकों की अज्ञानता के कारण ही महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में या तो स्तरहीन पुस्तकें मिलती हैं या मिलती ही नहीं। यही स्थिति सरकारी संस्थानों के पुस्तकालयों की भी है जिसके फलस्वरूप इन पुस्तकालयों के माध्यम से हिंदी साहित्य के सम्पर्क में आने वाले लोग हिंदी साहित्य के सही परिदृश्य से परिचित नहीं हो पाते।

प्रकाशकों की व्यावसायिक वृत्ति भी कम उत्तरदायी नहीं है। ये अच्छी एवं सामान्य पाठकों को दृष्टि में रखकर अपना प्रकाशन नहीं करते बल्कि विद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं सरकारी संस्थानों के पुस्तकालयों को ध्यान में रखते हुए पुस्तकें प्रकाशित करते हैं.। इसके लिए साहित्यकारों को भी दोषी ठहराया जा सकता, क्योंकि ये भी अपने को व्यावसायिक बना चुके हैं।

हिंदी भाषियों की सहिष्णुता भी हिंदी को उपेक्षित बना देती है । हिंदी के संदर्भ में निरन्तर होते हुए भी कुछ अंग्रेजी दा हिंदी साहित्य पर प्रहार करते रहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि हिंदी वाले विरोध नहीं करेंगे । हिंदी साहित्यकार सहिष्णु है और वह नहीं चाहता कि अल्प भाषा भाषाओं के मन में कोई भ्रम उत्पन्न हो ।

इस प्रकार अंग्रेजी शासनकाल से ही हिंदी जिस विष के घूंट की पीती आई है वह जहर उसे राजनीति ढंग से आज भी पीने को मिल रहा है फिर भी इसके लेखन में निरंतर वृद्धि हो रही है । हमें आजादी के बाद राजनीतिक, सामाजिक और वैदिक जीवन में अंग्रेजी का जो वर्चस्व बना हुआ है, और जिसकी जकड़ से भारतीय सृजन-शीलता मुक्त नहीं है, से ऊपर उठकर हिंदी के समुचित विकास में लगे रहना चाहिये । इसकी दुरूहता एवं विलष्टता का परिभार्जन करके सरल ढंग से जनप्रिय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और समुचित शब्दों को ग्रहण करके उसके स्वरूप के संबंध में पुर्नविचार आवश्यक है । हमारी भारतीय-संस्कृति प्राचीन काल से ही निंदा का विषपान करती हुई चली आ रही है पर आज भी वह मृत्युजय बनी हुई है । हिंदी का भी भविष्य भारतीय संस्कृति की तरह कालजयी बनेगा ।

0 0 0

हिन्दी साहित्य को संत कवि प्राणनाथ का प्रदेय

ले० डा० (श्रीमती) मंजुलता गहलौत
एम० ए०, पी-एच० डी०
व्याख्याता—हिंदी-विभाग
सागर विश्वविद्यालय (मध्य प्रदेश)

प्रणामी सम्प्रदाय का प्रारंभ संवत् १६८० से माना गया है, किंतु इस संप्रदाय के पक्षधर प्रणेता संत कवि श्री प्राणनाथ ही रहे हैं। इनसे पूर्व गुरु देवचंद ने भी अपनी रचना "तारतम्य वाणी" लिखकर इस संप्रदाय का प्रादुर्भात्र करने में योगदान दिया। स्वामी प्राणनाथ की हिंदी के प्रणामी सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण देन निरंतर अन्वेषण करने योग्य है।

स्वामी प्राणनाथ की जोशवाणी एवं होशवाणी :

प्राणनाथ ने अपनी कृति 'रास' में मायामोह से मुक्त होकर देवीयशरण में जाने को ही श्रेष्ठतम निरूपित किया है। बालक्रीड़ा, रासलीला, रासमंडल, अन्तर्ध्यानलीला, भोग आदि द्वारा आत्मविस्मृति एवं आत्मस्वरूप का ज्ञान पाना ही इस कृति में कवि का मूल प्रतिपाद्य विषय रहा है।

'प्रकाश' नामक रचना गुजराती में रची गई है। इसमें भी सांसारिक माया के आवरण से आच्छादित आत्माओं को आत्मजागृति का संदेश देना कवि का मूल लक्ष्य रहा है। ब्रह्मांगनाओं की तामसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए कवि उन्हें जाग्रत होकर तम से प्रकाश की ओर जाने का संकेत करते हैं :—

"धनी जाए जगावती, कहे कहे अनेक सनंध।
नीदे सब भुलाइयां, सेवा या सनमंध।।

इसमें "कातनी का दृष्टात" नामक प्रकरण अत्यन्त पठनीय बन गया है। "लक्ष्मी जी का दृष्टांत," 'शुकदेव महिमा,' 'बेहद वाणी,' 'प्रगटवाणी' आदि प्रकरण भी इसी से जुड़े हुए अंश हैं। गांधीजी पर इनका गहन प्रभाव पड़ा था।

'षटऋतु' नामक कृति में ईश्वर विमुक्त आत्मा हर ऋतु में पूर्वानुभूत सुखों की सुखद स्मृति उद्दीप्त होकर विरहाग्नि में अपने दुर्गुणों का अवसान करते हुए विशुद्ध मानस से यही कहती है, कि - (हे प्रिय ! अखंड परधाम में तो तुम्हारे मिलन का आनंद सदैव अनुभव किया लेकिन इस मायाजगत में वैसा सुख दुर्लभ है । अतः आप दर्शन देकर विरह पीड़ा शांत करो ।")

भारी वहेली ने लेजो सार, वाला जीनी हूं विरहणी रे
मुने दिवस दोहेला जाए, वसेके रेणी रे
इंद्रावती कहे अवगुण बिसारो अमहणां रे ।

कलशे नामक रचना में प्रणामी संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है । ब्रह्मणी खोज, जगत, विविध धर्ममत, वेदोक्त कर्मसाधना, पुरुष प्रकृति, अवतार मीमांसा, श्रीकृष्ण त्रिधालीला आदि तत्वों का विश्लेषण यहां हुआ है । ब्रह्माण्ड वर्णन, प्रेममार्ग, माया का स्वरूप, विशिष्ट आत्म विवेचन, गोकुललीला, जागनीलीला आदि घटना प्रसंग वर्णित करते हुए यहां भी कवि प्राणनाथजी ने माया से बचने का उपाय ब्रह्मोपासना ही माना है ।

उदा०—

'लगोगे जो दुख को तो दुःख तुमको लागसी ।
याद करो निजमुख, तो दुःख पीछे भागसी ।।'

'सनंघ' नामक कृति में कवि ने - श्रीमद्भागवत के माध्यम से 'कुरान' (इस्लामी' ग्रंथ) की ही नवीन व्याख्या कर दी है । इसमें उन्होंने बताया है कि समस्त धर्मों का मूलोद्देश्य एकमेव होते हुए भी भाषा वैविध्य आड़े आता है । इसी कारण पद्धस्पर छंद की दशा प्रादुर्भूत होती है—

'हकीकते फुरमान की, कहूं सुनो सबमिल
नूर अकल आगे ल्याए के, साफ करूं तुमदिल ।'

उन्होंने 'प्रेमभक्ति' को सब धर्मों का प्राणतत्व माना है । वे लिखते भी हैं—

'मैं देखे सब खेल में, पंथ पैंडे, वरसन,
देखी इस्क बंदगी सबकी, जैसा आकीन सबन ।'

पं० मिश्रीलाल शास्त्री के अनुसार 'सनंध' नमक ग्रंथ तत्कालीन धार्मिक नीति का एक ज्वलंत प्रतीक है। इस ग्रंथ में वर्णित विषय जहां दोनों धर्मों के बीच प्रचलित मिथ्याडम्बरों का खंडन करता है वहां धर्मों के बीच उत्पन्न होने वाले विषयवाद को नेस्तनाबूद करके धार्मिक भावना के बीच आध्यात्मिक सामंजस्य के पवित्र सोपान का निर्माण भी करता है।

'कीरंतन' (कीर्तन) नामक रचना में कवि के भ्रमण के दौरान रचे गए पदों का संग्रह है। इसमें अनेक राग-रागनी वेदांत तत्व, सद्गुण चर्चा एवं सच्चे मानव की पहचान के संदेशमूलक सिद्धान्त वर्णित हुए हैं।

'खुलासा' नामक रचना में स्वामी प्राणनाथ ने कुरान (जिसे वे 'खुदा का फरमान=आज्ञा पत्र' मानते थे) की व्याख्या करते हुए सांसारिक धर्म-वैमनस्य का प्रतिकार चाहा है।

'खिलवत' नामक कृति में प्रेमी-प्रेमिका के संवाद वर्णित है। अहंभाव का दमन, ब्रह्मज्ञान की महिमा, ब्रह्मसृष्टि (उत्तम जीव) का सृष्टि में अवतीर्ण होने का कारण इत्यादि बातों का इसमें समावेश हुआ है। 'परमधाम' की कल्पना यहां कवि ने की है। वे लिखते हैं—

> 'साकी पिलावे शराब, कहे प्याले लीजिये।
> हक इश्क आ आब, भर-भर प्याले पीजिए॥'

'परकरमा' (परिक्रमा) नामक रचना में आत्मा के परधाम में विचरण का जागतिक रूप में वर्णन हुआ है। कवि के अनुसार बल, बुद्धि, जोश, ज्ञान आदि 'प्रेम' के संयोग से ही वहां पहुँच सकते हैं। वे कहते हैं—

> 'पंथ होवे कोट कलप, प्रेम पहुचावे मिनेपलक।'
> अब आओ रे इश्क मानुहाम, देखूं वतन अपना निज धाम।
> करूं चरण तले विश्राम, विलसूं पियोजी सो प्रेमनाम॥'

इस प्रकार 'परमधाम' पक्ष के अंतर्गत रंगमहल, फूलबाग, महानवन, यमुना के सप्ततीर, अक्षरधाम, सुधासरोवर, जवाहिरों की नहरें और महल, चारहार-हवेली, माणिक पहाड़, आठ सागर एवं आठ भूखण्ड वर्णित हुए हैं। परमधाम के परमसौंदर्य को दर्शाते हुए प्रेमियों के अपूर्व प्रेम का परिचय भी कवि ने दिया है। प्रेममयी ब्रह्मसृष्टि ही ही 'परमधाम' में अवस्थित होने की अधिकारी है।

'सागर' नामक कृति में भी कवि ने उक्त अष्टसागरों को ही रूपक बनाकर पूर्णब्रह्म सच्चिदानंद के अप्राकृत गुण और उसकी असीमता का वर्णन करते हुए आलौकिक दिव्यता का वर्णन किया है। 'नूरसागर' का मूलस्थान में, 'नीर-क्षीर' सागर का सखियों की शोभा और ऐक्य में, 'दधिसिंधु' का राधाकृष्ण के सौंदर्य में, 'मधुसिंधु' का प्रेम में, धृतसमुद्र का ब्रह्मविद्या में, 'रससागर' का ब्रह्मांगनाओं में तथा सर्वरस सागर का कृष्ण की दया मे निवासित बताया गया है।

'सिनगार' (शृंगार) नामक कृति में आत्मा के समक्ष सच्चिदानन्द परब्रह्म नखशिखांत-श्रृंगार और अंग प्रत्यंगों का सौंदर्य, वस्त्रालंकारों की आभा, प्रेमप्रीत कृपाकोमला, कला-कौशल्य, नीति, बल विद्वता आदि का वर्णन हुआ है।

परब्रह्म के नख की अपूर्व शोभा का ही गुणगान करते हुए कवि लिखते हैं—

'सखी री। तेज भरो आकाश में, नख जो तनिक सीची।
ज्यों सागर छेदत आवत, नहरें निर्मल का तीर ।।'

'सिंधी' नामक रचना में विरही आत्मा की मिलनोत्कण्ठा का वर्णन है। विनती, फरियाद, न्याय आदि इसके विभिन्न प्रसंग है।

'मारफत सागर' नामक कृति में भी सरियत के बंधनों में जकड़े कुरान के धार्मिक सिद्धान्तों का आध्यात्मिक विश्लेषण हुआ है। मशरक और मगरब सूरज, आजूज-माजूज, दाफ तुल अरज, दजाल जैसे प्रसंग इसमें भी आए हैं। 'मारफत' आत्मा की मुक्त दशा को ही कहा गया है। ऐक्यि की भावना का प्रसार ही इस कृति का प्रमुख संदेश है। खिलवत की बातें, तारतम, फिरके, कयामत के सात निशान, छः दिन की पैदाइश आदि बातें इस कृति में विस्तार पूर्वक वर्णित हुई हैं, तभी से ब्रह्म ज्ञान का संकेत पैगंबर, अवतार आदि देते चले आए हैं—

'जमाना खाली नहीं, विना महमदी कोय।
करत सबनमें रोशन, चिराग नबी की सोय ।।'

'कयामत नामा' नामक रचना में कवि प्राणनाथजी ने आत्म जागृति, पैगम्बरी आदि बातों पर प्रकाश डाला है। उपदेश वाणी सुन कर भी यदि आत्मा नहीं जागती हो वह मोमिन है—

'यों इल्म समझावते, जो कोई न समझत ।
तिन मजाजी दिल को, जिन करो नसीहत ॥'

इस रचना में श्याम मेंहदी और बुद्धावतार की भी चर्चा है । इनके अतिरिक्त प्राणनाथ की होशवाणी के ग्रंथों 'कुरान के जवाब सवाल', 'मेखमीरांजी का संवाद', तीसरा कयामत नामा', 'कुरान की पत्रिकाएं', 'जामिल मारफत', 'छत्रसाल प्रबोध' आदि में मुख्यतः सर्वधर्म ऐक्य का ही निरूपण किया है । इनकी अनेक रचनाएं अनुपलब्ध भी हैं । फिर भी प्रणामी संप्रदाय को सर्वमहत्वपूर्ण प्रदेय संत कवि प्राणनाथजी का ही रहा है ।

— 0 —

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन एक श्रद्धाँजलि

ले०—सन्तोष कुमार एम० ए० पूर्व छात्र

राष्ट्रभाषा हिंदी के परम पुजारियों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का नाम बड़ आदर के साथ लिया जाता है और उनकी श्रद्धांजलि के रूप में आज का हिंदी-समाज समय-समय पर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये किसी न किसी प्रकार के आयोजन करता ही रहता है। अत; इतने बड़े समाज में जिस महापुरुष का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्मृति-दिवस मनाया जाता हो भला उस महापुरुष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व कितना महान् होगा ?

श्रद्धेय टण्डन जी हिंदी समाज के अग्रगण्य नेता थे। वे अपने समाज का नेतृत्व करने वाले महानायक के रूप में प्रतिभासित होते थे। एक महानायक के लिए जो गुण परमावश्यक होने हैं, वे सब टण्डन जी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। वे अन्नय देश सेवी, कर्मठ और वीर थे। वे अपनी लगन पर अपने को मिटा देना भली भांति जानते थे। वे मार्ग पर चलते हुए विघ्न बाधाओं की रंचमात्र भी चिंता नहीं करते थे। उन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ अपने व्रत का पालन किया और अपने आपको सदा के लिए अमर बना लिया।

टण्डन जी ने हिंदी भाषा और साहित्य की अमर सेवाएं कीं। हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान तथा विकास में उन्होंने अपने आपको मिटा दिया। उनके समय हिंदी भाषा उपेक्षणीय होने के साथ-साथ अपभिाजित थी। उसमें भावों की अभिव्यक्ति की कुशलता नहीं थी। इन सभी कमियों को दूर करते हुए उन्होंने हिंदी भाषा को परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। उन्होंने हिंदी भाषा को पहचाना और अनुभव किया कि भारत की राष्ट्रीयता के विकास का बीज हिंदी भाषा के अभ्युत्थान में ही निहित है। अतः वे प्राण-पण से हिंदी भाषा के उत्थान में लग गये। उन्होंने परिस्थितियों से युद्ध करके हिंदी भाषा को उन्नति को ओर अग्रसर किया ; उन्होंने एक सच्चे व्रती और साधक की भांति ही अपने जीवन के एक-एक क्षण को हिंदी भाषा के शृंगार में लगाया। उन्होंने एक महानायक की भांति ही उन सम्पूर्ण परिस्थितियों को पीछे ढकेला

जो हिंदी भाषा के विकास के मार्ग में रोड़े का काम कर रही थी। उन्हीं के प्रयत्नों से हिंदी भाषा पुष्ट और सबल बनकर उन्नति के क्षेत्र की ओर गति के साथ अग्रसर हो रही है। हिंदी भाषा के विकास एवं संवर्द्धन के लिए टंडन जी ने एक सामूहिक शक्ति उत्पन्न की थी। इसी के परिणाम स्वरूप आज हिंदी भाषा सम्पूर्ण देश में पल्लवित और पुष्पित होकर भाव-सौरभ से युक्त हो रही है। देश और समाज की उन्नति प्रगति के लिए राजर्षि ठण्डन निरंतर विरोधी-दलों से युद्ध करते रहे। हिंदी के लिये उन्होंने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। उनके आदर्शों का पालन करते हुए उनकी कल्पनाओं को साकार रूप प्रदान करना ही उनकी सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

हम भारतीय हैं अतः भारतीय संस्कृति की अमर ज्योति जलाने के लिये पारस्परिक मतभेद को मिटा कर हिंदी की सेवा में अपना हाथ बटायें तभी हमारे विचार एवं संस्कृति अटल रूप में ठहर सकते हैं। राजर्षि टण्डन ने हिंदी सेवाव्रत को अपनाया था। वे सभी प्रकार के प्रलोभनों को छोड़ कर आजीवन हिंदी के लिए संघर्ष करते रहे। उनका कहना था कि सम्पूर्ण देश की एक ही भाषा है और वह है हिंदी। टण्डन जी ने अकेले ही हिंदी को इतना ऊंचा उठा दिया कि वह अब एक वट-वृक्ष के समान फल फूल रही है परन्तु हमें सदैव सतर्क रहना चाहिये और हिंदी के महत्व को समझते रहना चाहिए तभी हम अपने सच्चे मार्ग पर निष्कंटक रूप से पहुंच सकते हैं।

आज कुछ स्वार्थ प्रेरित नीतिज्ञ जन हिंदी के प्रचार प्रसार में बाधा पहुँचा रहे हैं। उन्होंने अपने पूर्वजों के आदर्शों एवं अपनी निजी स्वतन्त्रता की बलि चढ़ा दी है। इन लोगों द्वारा उत्पन्न की गई स्थिति बड़ी दुर्भाग्य पूर्ण है। इन लोगों के बहकावे में आकर हम लोगों ने अपने मन-मन्दिर के टिमटिमाते दीपकों को बुझा दिया है। अंधेरे में जो कुछ मिल रहा है उसे बिना सोचे विचारे अपनाते चले जाते हैं और इसका दुष्परिणाम हमारे समाज में प्रगट होता जा रहा है और हम देखते हैं कि हम अपनी भाषा और संस्कृति से दूर हो रहे हैं। हमें अपनी भाषा पर गर्व होना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि भारत में राष्ट्र की वाणी नहीं है उसमें अपने विचारों की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं है। यह कहना अपनी मातृभाषा का अपमान करना है। जैसे हम अपनी मां का अपमान नहीं सहन कर सकते वैसे ही हम अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी का अपमान भी सहन नहीं कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हमें मुंह तोड़ जवाब देना चाहिये। हमें अपनी भावनाओं को जगाना होगा तभी हिंदी का उन्नयन-प्रचलन होगा।

राजर्षि टण्डन का व्यक्तित्व अनोखा था। वे अपने जीवन में जो निश्चित कर लेते थे उसे करके मानते थे एवं अपने निश्चित किये हुए विचारों में अडिग रहते थे।

वह महात्मा गांधी को भी अपना विरोध बताने में तनिक भी नहीं हिचकते थे। वे महात्मा गांधी का सम्मान करते थे। परन्तु वे स्वावलम्बी थे। टण्डन जी परिष्कृत हिंदी तथा अखण्ड भारत के पक्षधर थे। वे हिंदी के प्राण-स्वरूप थे। हिंदी भाषा सरल है। इसमें तकनीकी विषयों का भी अध्ययन-अध्यापन होने लगा है। अनेक विद्वानों ने टण्डन जी के संस्मरणों को लिखा है जिनमें सभी का मुख्य लक्ष्य रहा है कि हिंदी उनके लिए एक जीवन-श्रद्धा रही है। राष्ट्रीय जीवन के जितने भी आदर्श या महत्त्वपूर्ण मूल्य थे उन्हें राजर्षि जी हिंदी में समाहित देखते थे। उन्होंने हिंदी को राष्ट्रीय मुक्ति देने के लिये एक शस्त्र रूप में प्रयोग किया परन्तु आज हम उसे भूलते ही चले जा रहे हैं। हिंदी के प्रति जो षड्यंत्र रचे जा रहे हैं वे हिंदी की शक्ति के बिखराव के लिये ही हैं। इसलिए हमें सचेत होकर हिंदी को सबल बनाने के लिए नैतिक दायित्व को अपनाना होगा। हिंदी के लिये लड़ना वास्तव में पूरे देश की अस्मिता, प्रतिष्ठा के लिये लड़ना होगा। यदि हम हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में पूर्ण सम्मान दिला सकें तो राजर्षि टण्डन के प्रति हमारी सच्ची श्रदांजलि होगी। हिंदी-आन्दोलन हमारे जीवन का अंग बन चुका है। अपने देश को परम्परा तथा अन्य भाषाओं और जनपदीय बोलियों से बहुत कुछ लेकर हिंदी ने शक्ति अर्जित की है। सामान्य जन के जीवन्त सांस्कृतिक व्यापार तथा उनकी रगों के स्पन्दन को लेकर क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद आदि के संकुचित दायरे को तोड़ कर हिंदी ने एक विशाल नागरिकता का बोध कराया है तथा हमारी राष्ट्रीयता की भावना को बल प्रदान करके राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज भी राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी का समर्थन होना अत्यन्त आवश्यक है।

टण्डन जी की विचारधारा तत्कालीन नेताओं की विचारधारा से भिन्न थी। दूसरे नेताओं ने भारत की विविधता में एकता का दर्शन किया। उसी समय टण्डन जी ने एकता में सारी विविधताओं को विलीन पाया। वह कथनी और करनी में सामंजस्य रखने वाले कर्मठ व्यक्ति थे। वे सच्चे अर्थों में भारतीय प्रतीक थे। आज के युग में टण्डन जी जैसा निस्वार्थ राजनीतिज्ञ तथा समाज-सेवी मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। टण्डन जी की बदौलत सम्पूर्ण भारत में हिंदी का प्रचार प्रसार हो सका। टण्डन जी राष्ट्रभाषा हिंदी को विश्वभाषा के रूप में देखना चाहते थे। भारत में हिंदी का जो भी स्थान है उसके पीछे टण्डन जी की अटूट निष्ठा और उनके परिश्रम का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यदि हम टण्डन जी की हिंदी सेवाओं का प्रचार और प्रसार कर सकें तो यह महान् व्यक्ति के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

— 0 —

वैदिक शिक्षा दर्शन

ले० – मनुदेव 'बन्धु' एम० ए०
संस्कृत-हिंदी-वेद
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

शिक्षा की परिभाषा हम वेद के शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं-"विद्ययाऽमृत-मश्नुते" "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् विद्या वह है जो हमें मुक्ति दिलाती है, आत्मदर्शन कराती है। महर्षि दयानन्द "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" नामक ग्रन्थ में शिक्षा की परिभाषा करते हुए लिखते हैं - "जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें ; उसको शिक्षा कहते हैं।" इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने भी गीता में "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "अध्यात्म विद्या विद्यानाम्" द्वारा इसी सिद्धांत को स्वीकारा है।

महर्षि दयानन्द ने प्राचीन भारतीय साहित्य का मन्थन करके लुप्तप्राय वैदिक-शिक्षा-प्रणाली का वास्तविक स्वरूप हमें दिखाया। महर्षि ने शिक्षा जगत् में मौलिक, व्यवहारोपयोगी वैदिक विचार दिये हैं। महर्षि भर्तृहरि के शब्दों में हम कह सकते हैं —

"विद्याविलास मनसो धृतिशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसार दुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥"

वे विद्याविलासी मानव धन्य हैं जिन्होंने अपना समग्र जीवन परोपकारमय बना रखा है।

वैदिक शिक्षा सोद्देश्य है। उसका उद्देश्य समाज के उत्थान में समर्पण की भावना को जन्म देना है, जिसके लिए छात्र को भावी जीवन में किसी उद्देश्य को चुनकर उसके लिए अपने को तैयार करना होता है। इसी के लिए यज्ञोपवीत का विधान किया गया है। ऋषि ने लिखा है - "प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा आचार्य-कुल में हो" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)। दो बार यज्ञोपवीत से अभिप्राय बालक

की रुचि का परिज्ञान करना है। जो आचार्य बालक की रुचि पहिचान ले, वह उसे उसके वर्ण के अनुरूप यज्ञोपवीत दे देवें। यज्ञोपवीत उसके उस सामाजिक कर्त्तव्य का सांकेतिक चिन्ह है, जिसकी पूर्ति के लिए वह अपने आपको तैयार कर रहा होता है। यह जन्म से न होकर रुचि, गुण, कर्म, तथा स्वभाव के अनुसार ही होता है। जिस दायित्व को निभाने के लिए शिक्षाकाल में एक छात्र अपने आपको तैयार करता है, वे कर्त्तव्य निम्न प्रकार से हैं—१. अविद्या को दूर कर ज्ञान का प्रसार करना २. अन्याय को दूर कर न्याय तथा सुरक्षा प्रदान करना, ३. अभाव को दूर कर जीवनोपयोगी भौतिक पदार्थों की वृद्धि करना, ४. इन तीनों का सहयोग करना। इन्हीं को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कह दिया गया है। इसके विपरीत आज की शिक्षा का उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण उदरपूर्ति मात्र ही है।

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध उसी प्रकार का हो; जिस प्रकार का संबंध माता और पुत्र में होता है। माता अपने शिशु को अपने गर्भ में रखती है। आचार्य अपने शिष्य रूपी शिशु को अपने निकट (गर्भ) में रखता है। वेद ने इसी विषय का प्रतिपादन सुस्पष्ट शब्दों में किया है—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयंति देवाः ॥"

—अथर्ववेद

वैदिक शिक्षा-दर्शन में शिक्षा प्राप्ति प्रत्येक नागरिक का अपरिहार्य अधिकार है। इसमें ऊंच-नीच का भेद भाव नहीं है। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण है। राजा का अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को शिक्षा से वंचित करने वाले समर्थ नागरिक को दंड दे तथा असमर्थ के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के शिक्षा-विषय में एक क्रांतिकारी विचार देते हुए लिखा है—"राजा को योग्य हैं सब कन्या और लड़कों को उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् करना, जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दंड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किंतु आचार्यकुल में रहे। सब स्त्री पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है। जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी अपने अनुकूल, प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं; वैसे ही कन्या कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान्, पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवें। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए। इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि

पांचवें अथवा आठवें वर्ष के आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सकें, पाठशाला में अवश्य भेज दें, जो न भेजें तो वह दण्डनीय हों। जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हों तो उसको मन्त्र संहिता छोड़कर सब शास्त्र पढ़ावें। पांचवें व आंठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़कियां लड़कियों की पाठशाला में आ जावें और नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें।" इस प्रकार राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक शिक्षित हो।

उपर्युक्त शिक्षा संस्थान शांत, एकांत, सुस्थिर तथा सात्विक वातावरण में ही होना चाहिए जिससे कि अध्येतृवर्ग निश्चिन्त हो कर अध्ययन कर सकें और अध्यापयितृ वर्ग दत्तचित्त होकर अध्यापन कर सकें। वेद में इसका चित्रण कमनीय रूप में मिलता है—

'उपह्वरे गिरीणां, संगसे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥"

—यजुर्वेद

अर्थात् पर्वतों की उपत्यका तथा नदियों के संगम पर शिक्षा प्रदान करने से राष्ट्र को उत्तम सच्चरित्र विद्वानों की प्राप्ति होती है। नगरों के विलासितामय वातावरण से दूर प्रकृति के स्वच्छ वातावरण का उत्तम प्रभाव होता है, जो कि शिक्षाकाल में मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकभावों का संचार कर देता है, जहां अध्येताजन सांसारिकता के दूषित प्रभाव से मुक्त हो कर अपने जीवन का निर्माण करने में सफल हो सकते हैं। ऋषि दयानन्द ने लिखा है—"विद्या पढ़ने का स्थान एकांत देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोष एक दूसरे से दूर होनी चाहिए। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोष दूर ग्राम व नगर रहें।" इसके विपरीत आज की संस्थायें नगरों के पास होने से उनके दूषित वातावरण से अछूती नहीं हैं। परिणामतः आज का छात्र तोड़-फोड़, हड़ताल, आवारागर्दी एवं विलासिता का शिकार हो रहा है। आधुनिक शिक्षा मासिक व्यय में गृहस्थों से दो पग आगे है। इस कारण वर्तमान शिक्षा पद्धति राष्ट्रनिर्माण में सहायक न होकर बाधक ही बन रही है।

इसके साथ ही सह-शिक्षा (Co-education) नहीं होनी चाहिए। ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जब सन्तान आठ वर्ष की हों तभी लड़कों को लड़कों की पाठशाला में और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज दें।"

आज नियम का उल्लंघन होने का परिणाम है कि छात्रों में नित्यप्रति आचार-हीनता भयानक रूप में तथा अतिशोचनीय रूप में बढ़ रही है। विदेशों में तो वहां के

शासकों के लिए यह एक गम्भीर समस्या बनी हुई है, क्योंकि यौवनावस्था में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। मदान्ध यौवन के कारण हिताहित का विचार किये विना किशोर किशोरी पतन के गहरे गर्त में जा गिरते हैं। समाज की इस पनपती पौध की जड़ों को दीमक से बचाने के सदुद्देश्य से ही दयानन्द कहते हैं—"जो वहां अध्यापक और अध्यापिका पुरुष व भृत्य अनुचार होवें, कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे; अर्थात् जब वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकांत सेवन, भाषण, विषयकथा, परसार क्रिड़ा, विषय का ध्यान और संग—इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त हो के आनन्द नित्य बढ़ा सकें।"

परन्तु आज इसके विपरीत होने का यह परिणाम है कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध होकर इन पवित्र संस्थाओं में यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। लेखक को विदित है कि कई अध्यापकों के अपनी शिष्याओं के साथ ही वैवाहिक सम्बन्ध हुए हैं। वैदिक-विचार धारा के अनुसार यह पहला प्रश्न है कि इन शिक्षण संस्थाओं में अध्यापक कैसे होने चाहिए, उनकी योग्यता क्या हो, विशेष रूप से उनका आचरण पक्ष कैसा है ? इसी सम्बन्ध में वैदिक मत प्रस्तुत करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—"जो अध्यापक पुरुष व स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु, जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ने और शिक्षा देने योग्य हैं।"

आज के शिक्षकों के जीवन में मानवीय मर्यादाओं का अभाव होने से छात्रों का जीवन भी उच्छृंखल होता जा रहा है। आज अध्यापक की योग्यता केवल मात्र उपाधि विशेष रह गई है, जिसका परिणाम यह है कि आचारहीन गुरु के कारण छात्र भी आचरणहीनता की ओर प्रगति कर रहे हैं। यदि उपाधियों के साथ-साथ संस्थाओं में उत्तमाचरण को भी महत्व दिया जावे तो छात्र सदाचार ग्रहण में रुचि ले सकते हैं क्योंकि "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।

देश की पीढ़ी के निर्माण का सूत्र बताते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"उनके माता-पिता अपने सन्तानों से व सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे सांसारिक चिन्ता से रहित हो कर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें। जब भ्रमण करने जायें तो उनके

साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की चेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें। जब तक गुरुकुल में रहें, तब तक माता-पिता समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्य को समझें। इसलिये शुभ लक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिए। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़े, समग्र वेदादिशास्त्रों में विद्वान् हों, सदा उनको कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें। विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़नेहारों में प्रेमी विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे पूर्ण विद्या पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जावे। जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें, जैसे कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्ट व्यसन अर्थात् मद्यादि सेवन और वैश्य गमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोहलवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न बढ़ने बढ़ाने, परीक्षा देने व लेने में आलस्य व कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य से बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य धन की वृद्धि न मानना आदि।"

छात्रों के जीवन में धार्मिकता के संस्कार होने चाहिए। संस्कारों से उत्तम संस्कृति का निर्माण होता है। अतः प्रतिदिन दोनों समय छात्रों को सन्ध्या और हवन अवश्य करना चाहिए, जिससे प्रतिदिन पड़ने वाले संस्कारों से उनका जीवन सुसंस्कृत होता जावे।

संक्षेप में वैदिक शिक्षा-दर्शन एक सार्वभौम और सर्वजनीन शिक्षा-दर्शन है। यहां राजा और रंक दोनों में समानता है। आध्यात्मिकता और भौतिकता का संगम है। वैदिक शिक्षा-पद्धिति के स्वरूप को पंच सकार सें जाना जा सकता है, यथा—

"समानता सरलता सामीप्यं गुरुशिष्ययोः।
स्वाधीनं संयमश्चैव सकाराः पंच सिद्धिदाः॥"

शिक्षा में इन पांच सकारों वाले गुणों का होना अत्यन्त अनिवार्य है। यदि आज का भारत उपर्युक्त वैदिक शिक्षा पद्धति स्वीकार करके उस पर चलना प्रारम्भ कर दे तो अवश्य ही संसार के समस्त देशों में अग्रगण्य हो जावेगा।

— 0 —

भारत में विदेशी पेड़-पौधों की उपयोगिता

ले०—डा० विनोदचंद्र सिन्हा
अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग।

पेड़-पौधे स्वदेशी हों या विदेशी, उनकी उपयोगिता अनन्त है। इसीलिए भारत में अति प्राचीन काल से वृक्षोपासना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हमारी धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय मान्यताओं तथा परम्पराओं की पृष्ठ-भूमि में पेड़-पौधों का विशिष्ट स्थान है। इनका अस्तित्व हमारी भौतिक एवं पारमार्थिक साधना को बलवती बनाता है। जीवन में त्याग, तपस्या, परोपकारिता और पावनता आदि गुणों की स्थापना काफी अंशों में पेड़-पौधों के साहचर्य से हुई है। यदि हम यह कहें कि इस का ईश्वरत्ववृक्षों में साकार हुआ है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पेड़-पौधों के अभाव हैं न सृष्टि मनोरम रहेगी, न काव्य का सृजन होगा और न ही मानव का अस्तित्व ही चिरन्तन बना रह सकेगा। दिनकर जी ने लिखा है—

पहली पंक्ति लिखी विधि ने
जिस दिन कविता की,
उस दिन पहला वृक्ष स्वयं
उत्पन्न हो गया।
प्रथम काव्य है वृक्ष
विश्व के पहले कवि का।

भारतीय संस्कृति की यह एक प्रमुख विशेषता रही है कि अच्छी बातों के आदान-प्रदान करने में उसने कभी भी संकोच नहीं किया। विश्व की सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाते हुए, उसने विश्व से अच्छी बातों को ग्रहण करने का सफल प्रयास किया है। भारत में पेड़ पौधों की अतुल सम्पदा थी, फिर भी बाहर के उपयोगी पेड़ पौधों को अपनाने में उसने भरपूर उत्साह का प्रदर्शन किया। समय के साथ-साथ कुछ विदेशी वृक्ष तो इस धरती से इतना जुड़ गये, मानों वे यहीं उत्पन्न हुए हों।

पेड़-पौधे सौन्दर्य की गाथा हैं। शोभाकर वृक्षों के द्वारा आज-कल अपने देश में सौन्दर्य उत्पन्न करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है। वृक्षारोपण के द्वारा, गांवों, नगरों, सार्वजनिक स्थलों और मार्गों को सुन्दर बनाया जा रहा है। शोभाकर फूलों वाले वृक्षों की सूची को यदि ध्यानपूवक देखा जाय तो ज्ञात हो जायेगा कि इसमें कुछ ही पेड़ देशी हैं और अधिकांश विदेशी। इनमें गुलमोहर और गुल-ए-चीन अपने देश में इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि सम्भवतः कम ही लोग यह जानते होंगे कि ये दोनों वृक्ष मूल रूप से विदेशी हैं।

मेडागास्कर द्वीप का गुलमोहर एक बड़े आकार का खुली और छतरीनुमा फैली हुई शाखाओं वाला वृक्ष है। इसकी हल्की पतियांपक्षियों के परों की तरह फैली हुई हैं।

इस वृक्ष की एक अन्य किस्म सफेद गुलमोहर भी भारत में उगायी जाती है। इसे अरब लोग एबीसीनिया से भारत लाये थे। गुलेचीन मैक्सिको अथवा ग्वोटेमाला से भारत लाया गया। सजावट के लिए विदेशी वृक्षों में अशोक, जैकेरेन्डा, स्वर्णचम्पा, टूलिप ट्री, जावाकैशिया, वर्मी गुलाबी कैशिया। रेन ट्री, बोतल ब्रश और स्पोटेड़ गलीरिसिडिया विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये वृक्ष विशेष रूप से छाया, शोभा तथा मार्गों को सुन्दर बनाने के लिए लगाये जाते हैं।

अशोक वृक्ष अपने देश में काफी प्रचलित है। इसकी माले जैसी नुकीली चिकनी और चमकदार पत्तियां बहुत सुन्दर होती हैं। अपनी चमकीली पत्तियों के कारण सड़कों के किनारे लगाये जाने के लिए यह वृक्ष बहुत अच्छा समझा जाता है। इसकी छाल से अच्छे रेशे निकलतेहैं। लचकदार लकड़ी, ड्रम, सिलेन्डर, पैंसिल और बक्स बनाने के काम में लायी जाती है। शुभ अवसरों पर इसकी पत्तियों की बन्दनवार बनायी जाती है। अशोक वृक्ष का उत्पत्ति-स्थल श्रीलंका माना जाता है। सजावट की दृष्टि से जैकेरेन्डा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। बाग, बगीचों, सार्वजनिक स्थानों तथा घरों में बाड़ बनाने के लिए बहुत अच्छी झाड़ है। जैकेरेन्डा उत्तरी पश्चिमी अर्जेन्टाइना का देशज वृक्ष है।

शोभाकार वृक्षों में स्वर्ण चम्पा का भी विशेष स्थान है। ये वृक्ष बड़े तो नहीं होते किंतु वर्ष भर पत्तियों से लदे होने के कारण बड़े आकर्षक लगते हैं। इसके सफेद फूल अत्यन्त सुगंधित होते हैं। इस वृक्षको अधिकतर धार्मिक स्थलों के समीप उगाया जाता है। इसका दूधिया रस वात रोग में उपयोगी पाया गया हैं। इसकी छाल ज्वर दूर करती है और घाव भरती है। भारत में इस वृक्ष को जीवन वृक्ष के रूप में आदर प्राप्त है।

पूर्वी अफ्रीका का टूलिप ट्री हैदराबाद, आंध्र प्रदेश, चंडीगढ़ तथा नयी दिल्ली में विशेष रूप से उगाया गया है। अपने कटोरी नुमा फूलों के कारण अंग्रेजी में इसे

फाउन्टेन-ट्री कहा जाता है इसके फूलों में पानी भरा रहता है, जिसे दबाने से फव्वारे की तरह धार निकलती है। सड़कों के किनारे लगाने के लिए यह एक उपयोगी और छायादार वृक्ष है। अफ्रिका के शिकारी इसके फलों का काढ़ा बनाते हैं। इसकी लकड़ी सफेद और कोमल होती है। इस लिए कागज और घरेलू सामान बनाने के लिए उपयुक्त है।

जावा कैशिया भारत के अधिकांश राज्यों में उगाया जाता है। चंडीगढ़ में सड़कों के किनारे आज इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है। जावा का यह वृक्ष मध्यम आकार का बड़ा सुन्दर होता है। पत्तियां गोलाकार होती हैं और वृक्षों से गहरी गुलाबी कलियां निकलती है। बर्मा का गुलाबी कैशिया भी मध्यम आकार का होता है। इसकी पत्तियां नुकीली और चमकदार होती हैं और फूल काफी सुन्दर होता है। बर्मा का यह वृक्ष विशेष रूप से बम्बई और मद्रास में उगाया जाता है।

मध्य अमेरिका का रेन ट्री भारत के उष्ण प्रदेशों विशेषकर बगाँल में पाया जाता है। यह अत्यन्त ही सुन्दर और सदाबहार वृक्ष है। इस वृक्ष के नीचे काफी नमी रहती है, इसीलिए इसे रेन ट्री अथवा हिंदी में वर्षा वृक्ष के नाम से पुकारा जाता है। इसके हल्के गुलाबी फूल रेशमी गुच्छे से लगते है। इसकी फलियां का मीठा गूदा मवेशियों द्वारा खाया जाता है। सड़कों के किनारे लगाने के लिए यह बहुत अच्छा वृक्ष है। अपने फलों और कीमती लकड़ी के कारण इसकी बड़ी उपयोगिया है। बोतल ब्रश ट्री और ग्लीरिसिडिया भी शोभाकारी वृक्षों में महत्वपूर्ण माना जाता है। बोतल ब्रश आस्ट्रेलिया से और ग्लीरिसिडिया दक्षिणी अमरीका से भारत लाया गया।

शोभाकर वृक्षों में श्रीलंका का काविल्टोफोरम, बर्मा का आकाशनीम और पूर्वी भूमध्यसागर का चिनार वृक्ष भी उल्लेखनीय है। पिल्टोफारम भारत में बिहार, बंगाल और पश्चिमी घाट पर सामान्यतः पाया जाता है। यह वृक्ष जब अपने चमकीले फूलों से लद जाता है तो अत्यन्त मनोहारी लगता है। इसके फूल सुगंधमय होते हैं। पार्कों, बगीचों और सड़कों के किनारे जाने के लिये यह अत्यन्त उपयोगी वृक्ष है। इसकी लकड़ी से अलमारी और संदूक बनते हैं। बर्मा का आकाश नीम सुन्दर सदाबहार वृक्ष है, जो ८० फीट तक ऊंचा चला जाता है। इसके चांदी से सफेद फूल रात में मीठी सुगन्ध देते हैं। यह वृक्ष सम्पूर्ण भारत में सजावट की दृष्टि से लगाया जाता है। इसकी लकड़ी, फर्नीचर तथा नक्काशी के काम के लिए उपयुक्त है। इसकी छाल से कार्क बनाया जाता है पूर्वी भूमध्य सागर का चिनार वृक्ष मुख्यत: काश्मीर और पंजाब में उगाया जाता है। इसकी लकड़ी से बक्स बनाये जाते हैं और ईधन के रूप में भी इसका प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है।

बाहर से आये उपयोगी वृक्षों में काजू का वृक्ष, जाएन्ट बैम्बू, यूकिलिप्टस शहतूत का वृक्ष तथा इमली का पेड़ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। काजू जिसे हम बड़े चाव से खाते हैं, कम लोग जानते होंगे कि यह वृक्ष दक्षिणी अमेरिका का है। बर्मा देशज जाएन्ट बैम्बू भी अत्यन्त उपयोगी वृक्ष है। इसकी लकड़ी इमारत, फर्नीचर, टोकरी, गिलास एवं नाव का मस्तूल बनाने में प्रयुक्त होती है। लघु उद्योग धन्धों में इस वृक्ष की महत्ता का वर्णन आसानी से नहीं किया जा सकता। कागज उद्योग में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। चीन का शहतूत-वृक्ष उत्तरी भारत में प्रचुरता से उगाया जाता है। शोभाकर वृक्षों के रूप में अब यह पेड़ कम लगाया जाता है। इसकी लकड़ी नाव, फर्नीचर, खेलसामग्री तथा कृषि के औजार बनाने के काम में लायी जाती है। इसकी शाखाओं से मजबूत रेशा निकलता है, जिससे टोकरी बनायी जाती है। शहतूत के वृक्ष की सबसे बड़ी महत्ता रेशम उद्योग के लिए है। इमली अफ्रीका का देशज वृक्ष माना जाता है, किन्तु एशिया और अमेरिका में इसे सर्वत्र उगाया जाता है। भारत में इस वृक्ष की उत्तम किस्में उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग और अवध में देखी जाती है। यह एक सदाबहार वृक्ष है। इसकी नुकीली लम्बी फली खाने के काम में आती है। इसकी लकड़ी फर्नीचर, मूसल तथा नक्काशी की चीज़ें बनाने के काम में लायी जाती है। आस्ट्रेलिया का यूकिलिप्टस वृक्ष वर्तमान् समय में अपने देश में अत्यन्त ही लोकप्रिय हो गया है। इसे अब भारतवर्ष के अधिकांश भागों में उगाया जाता है। शोभाकर वृक्ष के रूप में इसकी बड़ी भारी महता है। वन पुन: रोपन के लिये भी यह वृक्ष काफी उपयोगी है। इसकी लकड़ी से विविध प्रकार के सामान बनाये जाते हैं। इसके स्लीपर से लकड़ी की फर्श बनायी जाती है। वस्त्र उद्योग में इस लकड़ी का बड़ा महत्व है। इस वृक्ष से एक तेल निकाला जाता है जो औषधि के रूप में प्रयुक्त होता है यूकिलिप्टस की छाल से टेनिन निकलता है।

टमाटर, सब्जी और फल दोनों ही रूपों में आज बड़े चाव से खाया जाता है। इसमें कुछ औषधीय गुण भी प्राप्त हुए हैं। यह पौधा दक्षिणी अमेरिका से भारत लाया गया। पपीता जो एक मीठा और स्वादिष्ट फल है मूल रूप से वेस्टइंडीज का है। अपच तथा नेत्र रोग के लिए यह बड़ा उपयोगी माना गया है। वेस्टइंडीज में इसकी पत्ती से कपड़ों को साफ किया जाता है। रायल-पाम भी वेस्टइंडीज का देशज वृक्ष है। यह पचास फीट तक ऊंचा उठता है। सड़क के दोनों ओर लगाने के लिए बड़ा ही उपयोगी वृक्ष है। इसके फल खाये जाते हैं तथा पत्तियों से चटाई बनाई जाती है। नारियल के वृक्ष के विषय में बड़ा विवाद है, किन्तु अधिकांश विद्वानों की राय में इसकी उत्पत्ति दक्षिणी या मध्य-अमेरिका में हुयी। सैंकड़ों वर्षों से इसे भारत में सफलता से उगाया जा रहा है। भारत के तटीय प्रदेशों में इस वृक्ष की लम्बी कतारें देखी जा सकती हैं। यह वृक्ष अत्यन्त ही उपयोगी है। इसका फल बड़े चाव से खाया जाता है

और पानी भी बड़ा स्वादिष्ट होता है। इससे उपयोगी तेल भी निकाला जाता है। इसके रेशों से नाना प्रकार की वस्तुएं तैयार की जाती हैं। शोभाकर बृक्षों में नारियल का भी विशेष स्थान है।

भारतीय मसालों में मगरोल अथवा कलौंजी का नाम सभी ने सुना होगा। इसका आदि देश दक्षिणी–योरुप में है। मगरौल का प्रयोग सब्जी और आचार में प्रचुरता से किया जाता है। इसका तेल भी औषधीय दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। बदहज्मी, दस्त, भूख न लगना तथा बुखार में मगरैल का प्रयोग किया जाता है। यह कफ-नाशक है तथा दूध बढ़ाने के लिए भी उपयोगी है।

सुपाड़ी जो भारत में इतनी प्रचलित है, इसका आदि देश मलाया है पान के साथ तो सुपाड़ी का सम्बन्ध सबको ज्ञात ही है। टानिक की दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्व है। आयुर्वेद में सुपाड़ी-पाक एक उत्तम टानिक है। सुपाड़ी का प्रयोग शुभ कामों में भी किया जाता है। आलू और चावल जो अपने देश में अत्यन्त ही प्रचलित खाद्य है, मूलरूप से विदेशी उत्पति के हैं। आलू दक्षिणी अमेरिका से और चावल चीन से आया चावल की उत्पति के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। विद्वान् डी कैनडोल के अनुसार चावल प्रथम रूप से चीन में ही बोया गया। वे भारत और आस्ट्रेलिया को भी चावल के आदि देश के रूप में स्वीकार करते हैं।

तम्बाकू जो आज काफी प्रचलित हो गया है, उसकी पचास से अधिक किस्में हैं। इनमें दो को छोड़ कर शेष सभी का जन्मस्थान अमेरिका माना जाता है। हमारे देश में तम्बाकू की दो जो प्रमुख किस्में लगाई जाती हैं, वेदो नों ही अमेरिकन हैं। १६०५ ई० में सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने तम्बाकू के पौधे का प्रचार भारत में किया। तम्बाकू के विविध उपयोग हैं। इसकी गणना नशीली वस्तुओं में तो होती ही है, किंतु इसका औषधि-महत्व भी कम नहीं है। नशवार के रूप में इसका प्रयोग बहुलता से किया जाता है। तम्बाकू से दांत का मंजन भी बनाया जाता है। सिगरेट और बीड़ी उद्योग का तो यह आधार ही है।

पेड़ पौधों की महती उपयोगिता को देखते हुए ही स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि प्रत्येक उगता वृक्ष प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है। ऋग्वेद के एक मंत्र में "बनिजो भवन्तु शन्नो" का स्वर मुखरित हुआ है।

(आकाशवाणी नजीबाबाद के सौजन्य से)

— 0 —

ग्रन्थ-परिचय

ग्रंथ का नाम : सूर-साहित्य-दर्शन
सम्पादक का नाम : सम्पादक-मंडल (सात सदस्यों का)
प्रकाशक का नाम : विदर्भ हिंदी साहित्य सम्मेलन नागपुर
पृष्ठ संख्या : १८५

प्रस्तुत संकलन में सूर-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें पचीस विद्वानों के लेख हैं तथा अंत में एक कविता है। लेखों के शीर्षक इस प्रकार हैं :—

१. सूरदास—ले० सीताराम चतुर्वेदी
२. सूर-पदावली की गेयता—ले० डा० कमलाकांत पाठक
३. सूर की गोपियां—ले० डा० इंद्रपालसिंह 'इंद्र'
४. सूर का वात्सल्य-वर्णन—ले० श्री लखनलाल मुराई 'किशोर'
५. सूरकाव्य में वात्सल्यरस—प्रा० जगजीवन प्रसाद दुबे
६. सूरसागर में संयोग पक्ष—प्रा० साधना गुप्ता
७. सूर की भक्ति का स्वरूप—डा० रामकुमार सिंह
८. कृष्णकाव्य परम्परा और सूरदास—डा० नत्थूलाल गुप्त
९. सूरदास और मधुरा भक्ति—प्रा० माणिक केशव बैतुले
१०. सूर की भक्तिभावना—प्रा० देविदास सरोदे
११. सूर की राधा—श्री हीरालाल जायस्वाल 'हीरा'
१२. सूर-सूर तुलसी शशी—प्रा० सुचेता वेलणकर
१३. सूर-दर्शन—प्रा० कुमुदिनी लाल
१४. सूर-दर्शन—श्री जनार्दन पाण्डेय
१५. सूर्यसम ज्योतिपुंज—डा० मदनमोहन शर्मा
१६. सबके सूर—प्रा० तारा बागडदेव
१७. सूरदास—डा० घनश्याम व्यास
१८. पुष्पदंत अपभ्रंश—डा० कुसुम पटोरिया
महापुराण तथा सूरसागर

१९. सूर-सुधा-माधुरी की अनुभूति—ले० वैद्य पं० गुलराज शर्मा मिश्र
२०. भक्त सूर का व्यक्तित्व—ले० डा० रामचन्द्र मिश्र
२१. सूरदास : जीवन दर्शन—संकलन
२२. सूर के कृष्ण : पारंपरिक विकास—ले० आचार्य विनयमोहन शर्मा
२३. महान् शब्द-शिल्पी सूर—ले० शैलेन्द्र कुमार
२४. सूर की साहित्यिक मान्यताएं—ले० डा० अपनंदप्रकाश दीक्षित
२५. अन्त: चक्षु भक्त शिरोमणि 'श्रीसूर'—ले० पं० शिवकरण शर्मा छंगाणी

अन्त में एक कविता है जिसका शीर्षक है **'कैसे अभिनन्दन करूं तुम्हारा सूरदास'** तथा जिसके रचयिता हैं राष्ट्रीय कवि सोहनलाल जी द्विवेदी। कविता इस प्रकार है—

कैसे अभिनन्दन करूं तुम्हारा सूरदास
ऐसा लगता ज्यों वेदव्यास
ले नई लेखनी बैठे फिर पावन इतिहास
लिख सके जो न संस्कृत भाषा में
इस आशा में,
पा सके जो न वे ज्ञान कर्म की चर्चा में
पा जायेंगे वह तत्व, भक्ति की अर्चा में,
अंधे वे जो कहते हमको अंधे
हमको तो अब तक मिला एक भी नहीं
नयनवाला वह कवि
जो अंकित कर सकता वह छवि
जो झंकृत है उन गीतों में,
जो लिखे प्रवाहित हो तुमने संगीतों में
कैसे अभिनन्दन करूं तुम्हारा सूरदास
हे नयनहीन ! यह देख तुम्हारी भावसृष्टि
ये नयन मचलते हो जाने को हीनदृष्टि
जिससे ये देख सके जीवन के सूक्ष्म तत्व
पी सके कि जिनसे हम कृष्णामृत
गीतामृत
दुह दुह शतशत श्रुतियों की धेनु
वेणु का सुन वादन
गोदोहन।

कैसे अभिनंदन करूं तुम्हारा सूरदास
वे नयन नहीं
जिनकी उपमा मृगनयनों से है की जाती
वे नयन नहीं
जिनकी उपमा अंजनमीनों से है की जाती,
ये चर्मचक्षु
इनकी है क्षुद्र परिधि सीमा,
ये पार नहीं कर सकते हैं रजनी सीमा
कैसे अभिनंदन करूं तुम्हारा सूरदास
तुम हो रहस्य, तुम हो घटना
नर नारी तो थक जाते हैं
भरते भरते नन्हीं सागर
हम तो अपनी उर की द्रोणी में भर लाए
अथाह सागर
जिसकी सहस्र शत लहरों की हिलकोरों में
कितने ही जीवनपोत बंधे से डोरों में
पा जाते हैं जग जलधिक्
खिल रहे नहीं सुखशान्ति मुक्ति के
स्वर्ण फूल।

प्रस्तुत संकलन में सूर-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टिकोणों से लिखे गये ऐसे लेखों का संग्रह किया गया है जो गम्भीर तथा उच्चकोटि के हैं। प्रत्येक सूर-साहित्य के अध्येता को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये। एम० ए० में जिन छात्रों ने "विशेष अध्ययन" के अन्तर्गत "सूरदास" को लिया है उनके लिए तो यह ग्रन्थ परमोपयोगी है।

इसके सम्पादक मंडल में निम्नांकित सदस्य हैं —

१. श्री रामगोपाल माहेश्वरी
२. डा० कमलाकान्त पाठक
३. श्री शिवचन्द्र नागर
४. श्री रामेश्वर बजाज
५. प्रा० बालकृष्ण पाण्डेय
६. डा० रामनारायण सोनी
७. श्री शिवनारायण द्विवेदी

तथा इनका प्राप्ति स्थान निम्नलिखित है —

पं० शिवनारायण द्विवेदी, प्रधानमंत्री,
विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
उत्तर अंबाझरी मार्ग नागपुर—१२

ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी कुशलता से किया गया है। इसका विषय-चयन इतना सुन्दर है जो कदाचित् ही किसी संग्रह में प्राप्त हो सकेगा। सूर-पंचशती के संदर्भ में उक्त संकलन की उपयोगिता निर्विवाद है।

(सम्पादक)

— 0 —

गुरुकुल सुधार समिति–विवरण

आज दिनांक १९-११-८३ को कुलपति निवास में गुरुकुल सुधार समिति में निम्न लिखित सदस्य उपस्थित हुए :—

१–श्री सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार	अध्यक्ष
१–श्री बलभद्र कुमार हूजा कुलपति	सदस्य
३–श्री आचार्य प्रियव्रत जी	सदस्य
४–श्रीमती दमयन्ती आचार्य कन्या गुरुकुल	,,
५–श्री सरदारीलाल वर्मा	,,
६–श्री कर्नल ओ-पी-राजपाल	,,
७–श्री देशराज स० मुख्याधिष्ठाता	संयोजक

विशेष आमन्त्रित

८–श्री आचार्य रामप्रसाद जी

९–श्री बृजमोहन थापर वित्ताधिकारी

१०–श्री दीनानाथ मुख्याध्यापक

बैठक में निम्न विचार किये गये :—

(१) निश्चय किया गया कि कुलपति ऐसा व्यक्ति चुना जाय जो आयसिद्धन्ति का हो साथ ही कुलपति तथा मुख्याधिष्ठाता एक ही व्यक्ति होना चाहिये।

(२) आचार्य एवं उपकुलपति भी एक ही व्यक्ति होना चाहिये। आचार्य का कार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिक्षा की देख-रेख करना तथा आर्य जनता से सम्बन्ध स्थापित करना है। मुख्याध्यापक का कार्य गुरुकुल परिसर में रहकर २४ घंटे ब्रह्मचारियों की देख-रेख करना है साथ ही अध्यापक भी अधिक से अधिक समय ब्रह्मचारियों से सम्पर्क बनाये रखें। अतः यह आवश्यक है कि सभी अध्यापकों की निवास व्यवस्था परिसर में हो।

यह भी विचार व्यक्त किया गया कि जितना अधिक से अधिक हो सके कुलपति तथा आचार्य को गुरुकुल में ही रहना चाहिये यथा समय कुलाधिपति परिसर में पधारें।

श्री आचार्य प्रियव्रत तथा आचार्या दमयन्ती ने आचार्य एवं उपकुलपति को गुरुकुल परिसर में रहना चाहिये, ऐसा सुझाव दिया।

(३) समिति का एक मत था कि वर्तमान प्रबन्ध व्यवस्था असन्तोषजनक है। असंतोष व्यवस्था का मुख्य कारण धनाभाव है। पिछले दो वर्षों से गुरुकुल फार्मेसी से २५,०००/= प्रतिमास प्राप्त न होने के कारण ऐसी स्थिति पैदा हो गई है। जब तक अध्यापकगण तथा कर्मचारियों को नियत समय पर वेतन प्राप्त नहीं होगा, असंतोष बना रहेगा। अतः प्रयत्न करना चाहिये कि फार्मेसी से देय निश्चित राशि यथा समय उपलब्ध हो।

(४) गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय का शिक्षास्तर ऐसा होना चाहिये कि परिसर में रहने वाले कर्मचारी तथा अन्य व्यक्ति अपने बच्चों को स्वतः यहां प्रविष्ट करें। हमें छात्रों को वेदानुकुल शिक्षा देने के अतिरिक्त उच्च सरकारी, प्रशासनिक तथा सैनिक सेवाओं के लिए भी तैयार करना चाहिये। इसके लिए उचित प्रबन्ध व्यवस्था की जाय, ताकि योग्य विद्यार्थी इससे लाभ उठाकर इन सेवाओं की प्रतियोगिताओं में सम्मिलित हो सकें। इस हेतु विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों से अपेक्षित है कि वे विद्यालय के छात्रों में संस्कृत तथा अंग्रेजी सम्भाषण वैदिक संस्कृति एवं अन्य विषयों में अभ्यस्त करने के लिए अपना समय दें।

इस प्रसंग में श्री चन्द्रशेखर त्रिवेदी प्राध्याधक मनोविज्ञान तथा डा० त्रिलोकचंद्र प्राध्यापक दर्शन विभाग द्वारा जो सेवा विद्यालय के छात्रों की जा रही है, इसकी प्रशंसा की गई।

(५) यह भी निश्चय हुआ कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तथा विद्यालय के आध्यापकों के लिए श्री आचार्य जी रेफरशन कोर्स की व्यवस्था करें, जिससे अध्यापकों की मनोभावना प्रखर हो।

(६) यह भी निश्चय हुआ कि विद्यालय तथा आश्रम के अध्यापकों तथा अधिष्ठाताओं का वेतनक्रम उच्च किया जाय। जिससे योग्य व्यक्ति उपलब्ध हों और वह पूर्ण निष्ठा से कार्य कर सकें।

अध्यापकों तथा छात्रों की वेशभूषा नियत की जाए साथ ही छात्रों की वेशभूषा की स्वच्छता की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाय।

(७) निश्चय हुआ कि विद्यालय में छात्रों की क्रीडा सामग्री की उचित व्यवस्था की जाय तथा क्रीड़ा के समय में सम्बधित अधिष्ठाता तथा अध्यापक दोनों उपस्थित रहें।

(८) विद्यालय पुस्तकालय का स्तर उच्च किया जाय। जिसके लिए विश्वविद्यालय पुस्तकालय से सहयोग प्राप्त किया जाये।

(९) विद्यालय में संगीत अध्यापक की व्यवस्था कर सामूहिक तथा वैयक्तिक संगीत छात्रों को सिखाया जाय।

(१०) गुरुकुल कांगड़ी का प्रोजक्टर को गुप्ता इलैक्ट्रिक कम्पनी हरिद्वार से प्राप्त किया जाय।

(११) आश्रम में पखों तथा प्रकाश की उचित व्यवस्था की जाय। आश्रम के अन्दर तथा बाहर फलश शौचालयों की व्यवस्था की जाय।

विद्यालय के भोजनालय में छात्रों की भोजन व्यवस्था हेतु (कन्या गुरुकुल देहरादून जैसा) डाइनिंग हाल वनबाया जाय। छात्र अपना भोजन स्वयं प्राप्त करें तथा अपने वर्तन स्वयं साफ करें।

इंधन की बचत हेतु गोबर गैस प्लांट को सुव्यवस्थित किया जाय।

(१२) विश्वविद्यालय में बी-एड श्रेणियों प्रारम्भ होने पर विद्यालय में बी-एड का प्रशिक्षण स्थल बनाया जाय तथा इस हेतु उचित ट्रेनिंग ऐड प्राप्त करने का प्रयत्न कियां जाय।

समिति को बतलाया गया कि जामियामिलिया को विद्यालय चलाने हेतु भारत सरकार से ग्रान्ट मिलती है। निश्चय हुआ कि पूरी जानकारी प्राप्त करने हेतु कुलसचिव, मुख्याअध्यापक तथा आचार्या दमयन्ती शीघ्र ही जामियामिलिया तथा दयाल बाग संस्थान जायें और अपनी संस्तुति प्रस्तुत करें ताकि गुरुकुल विद्यालय के लिए भी अदनुसार मांग की जा सके।

(१३ चुंकि फार्मेसी से २ वर्ष से विद्यालय को आर्थिक सहायता नहीं मिली। इसलिये निश्चय हुआ कि वर्तमान अर्थ संकट के निदान हेतु प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों से ३०/- प्रतिमास तथा माध्यमिक कक्षाओं के छात्रों से ६०/- प्रतिमास शिक्षा

शुल्क प्रथम जनवरी १६८४ से लेना आरम्भ किया जाए। साथ ही प्रत्येक छात्र से ५/- विदयुत तथा २/- चिकित्सा शुल्क भी प्रतिमास लिया जाए।

(१४) उपर्युक्त अनुसार आय-व्यय का ब्यौरा बनाकर आगामी अर्थसमिति में प्रस्तुत किया जाए।

(१५) कर्नल ओ-पी-राजपाल का उनके सहयोग के लिए धन्यवाद किया गया तथा उनसे निवेदन किया गया कि वह यदा-कदा गुरुकुल पधारें तथा विद्यालय को उन्नत करने के विषय में भी अपने सुझावों से लाभान्वित करते रहें।

(कैप्टन देशराज)
संयोजक सुधारसमिति
एवं सहायक मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

— 0 —

आभार–प्रकाश

प्रह्लाद–पत्रिका के इस अंक में विद्वानों का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए पत्रिका उनके प्रति आभार प्रकट करती है। बाहर के विद्वानों में डा० भवानी लाल भारतीय, पं० वीरसेन जी वेदश्रमी, डा० श्रीमती अंजुलता गहलोत के प्रति पत्रिका विशेष रूप से आभारी हैं। महात्मा मुंशीराम जी का (स्वामी श्रद्धानन्द जी) "स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य" विषयक-लेख आज के सन्दर्भ में भी उतना ही उपयोगी है जितना पहले था इसीलिए इस अंक में उसे स्थान दिया गया है। 'गुरुकुलीय आचरण' अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है और इस पर जो लेख माननीय कुलपति जी ने लिखा था भी परसारित करना आवश्यक समझा गया। उनके प्रति आभार प्रकट करना आवश्यक है।

इस अंक के प्रणयन में डा० विनोदचन्द्र सिन्हा, डा० भगवानदेव पाण्डेय तथा श्री मनुदेव 'वन्धु' ने भी लेख लिखकर सक्रिय सहयोग प्रदान किया है अस्तु वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

यह पत्रिका प्रधान संरक्षक माननीय बलभद्रकुमार जी हूजा कुलपति, संरक्षक श्री रामप्रसाद जी वेदालंकार–उपकुलपति एवं आचार्य, व्यवस्थापक–डा० जबरसिंह जी सैंगर, व्यवस्थापक-कुलसचिव एवं वित्त अधिकारी–श्री ब्रजमोहन जी थापर के प्रति भी आभार व्यक्त करती है।

गत अंक किन्हीं कारणों से विलम्ब से प्रकाशित हुआ था परन्तु यह अंक समय से प्रकाशित हो रहा है। आशा है आगे भी ऐसा ही होगा।

—सम्पादक

परामर्शदात्री समिति

१– श्री सदाशिव भगत, अध्यक्ष — अंग्रेजी विभाग।

२– श्री ओमप्रकाश मिश्र, अध्यक्ष — मनोविज्ञान विभाग।

३– श्री विजयपाल सिंह, अध्यक्ष — गणित विभाग।

४– डा० विनोद चन्द्र सिंहा, अध्यक्ष — इतिहास एवं पुरातत्व विभाग।

५– डा० जयदेव वेदालंकार, अध्यक्ष — दर्शन विभाग।

मुद्रक : गोपाला प्रिंटर्ज, ५५५, ३६-बी, चण्डीगढ़

प्रह्लाद

(त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

[वर्ष—१९८४ (जनवरी से मार्च तक) अंक—१]

प्रधान संरक्षक

माननीय बलभद्र कुमार हूजा

अवकाश प्राप्त आई० ए० एस० कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उपकुलपति

सम्पादक

डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट०

अध्यक्ष हिंदी-विभाग

सहायक सम्पादक

डा० सत्यव्रत 'राजेश' एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, वेद-विभाग

डा० भगवानदेव पाण्डेय एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

डा० रामप्रकाश एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग

डा० विजयपाल शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक

शिरोमणि भट्ट

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

पवन कुमार

छात्र एम०ए० (द्वितीय वर्ष)

महेन्द्र प्रसाद ध्यानी

छात्र-विद्यालंकार (द्वितीय वर्ष)

अनुक्रमणिका

प्रह्लाद

त्रैमासिक हिंदी पत्रिका

वर्ष : 1984 अंक : 1

कविता

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी

(रचयिता - राधेश्याम "आर्य" विद्यावाचस्पति)

फैले वेदों का प्रकाश फिर,
जगे धरा पर नवल आश फिर,
ऋषियों के निर्देशन में नव—
हो भारत का शुचि विकास फिर।

वैदिक धर्म ध्वजा लहराए,
भारत का नर देव कहाए,
पुन: पठन-पाठन वेदों का—
हो भू पर, नव स्वर गहराए।

आर्य बनें वसुधा के वासी,
जाग्रत हों सब भूमि निवासी,
सत्य-धर्म के लिए लड़ें हम,—
निर्भय होकर भारत-वासी।

दीप निरन्तर जले ज्ञान का,
आवाहन हो नव विहान का,
धर्म समन्वित अन्वेषण हो—
वसुधा पर फिर नव्य ज्ञान का।

ज्योतिर्मय हो वसुधा सारी,
नष्ट-विनष्ट रजनि हो कारी,
सत्य-शिवं सुदरन्ता पूरित—
जीवन पद्धति बने हमारी॥

("आर्य गजट" नवम्बर 1982 पृ०-11 से साभार)

आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान

(ले०—महात्मा मुंशी राम जी)

राजकर्मचारियों ने, ईसाईपादरियों और गुप्तचरों की रिपोटों पर, सत्यार्थप्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" The Bible of (Aryasamajs) की उपाधि दी है। और है भी यही ठीक। "बाइबल" के अर्थ हैं पुस्तक के। और पुस्तक बना है पुस्त् पोसयति-ते) से जिसके अर्थ आप्टे के कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बांधना, गूंथना)—प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ का नाम पुस्तक (बाइबल, कुरान, ग्रन्थ—एकार्थवाची शब्द ही हैं) केवल इसीलिए नहीं कि उसे ग्रन्थित करके उसकी जिल्द बांधी गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि साम्प्रदायिक आचार्यों के आदेश इस मत के अनुयायियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते है।

सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील (Bible) का, महम्मदी मत में कुरान का, तथा खालसा ग्रन्थ में ग्रन्थसाहब का है। यह व्यवस्था बृटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सं० 1908 ई०मेंब पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को ज़ब्त नहीं किया जाता तब तक वह अमन के जिम्मेवार न होंगे, "उस समय बृटिश गवर्नमेन्ट ने पांच विचारशील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थप्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेन्ट बाइब्ल, कुरानादि का प्रचार रोकने का ज़िम्मा नहीं उठाता तब तक सत्यार्थप्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रंथ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइब्ल का ईसाईयों में। सत्यार्थप्रकाश पुस्तक है, इसके ग्रंथकर्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे। और इसलिए अपने सम्प्रदाय के आचार संगठन के लिए उन्होंने वह ग्रन्थ रचा। इसलिए जो मान एक सम्प्रदाय के धर्म ग्रंथों का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थ-प्रकाश को भी है परन्तु इससे बढ़कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइब्ल और कुरान के मुकाबिले में सत्यार्थ-प्रकाश की स्थिति कुछ ऊंची है। बाइब्ल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उसके शिष्यों ने उसके काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घटनाओं और

उसके उपदेशों को एकत्र किया। यही व्यवस्था कुरान ग्रंथ साहब इत्यादि की है। परन्तु दयानंद ने अपना ग्रंथ स्वयं लिखवाया और छपाई के समय उसके कुछ फार्मों के प्रूफ भी देखे, इसीलिए उसके ग्रन्थ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता जिस प्रकार अन्य मतों सम्बन्धी धर्म ग्रंथों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर विरुद्ध तथा असम्भव लेख सन्तमेथ्यू, सन्त ल्यूक, सन्त जानादि ने लिखे हैं उनके लिए मसीह जिम्मेवार हैं। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयम् इनका संशोधन कर देता—तात्पर्य केवल यह है कि जहां सम्भव है, कि इन्जील, कुरानादि में बहुत से भाव उन साम्प्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गए हैं वहां सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना कम है।

क्या सत्यार्थप्रकाश निभ्रान्त ज्ञान है ?

तब क्या सत्यार्थप्रकाश को धर्म पंथ का निभ्रान्त मार्गदर्शक समझें ? इस प्रश्न का ऊत्तर ग्रन्थकर्ता ही ठीक दे सकते हैं, हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो शायद ऐसा कुफ्र का दावा न करता परन्तु उसके अनुयायियों ने उसे "शब्द ब्रह्म" का ही पद प्रदान कर दिया है। परन्तु ऋषिदयानन्द ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना है कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्धयानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देष मात्र करने वाला है। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रंथ में जो कहीं 2 भूलचूक से अथवा शोधन तथा छपाने में भूल चूक रह जाये उसको जानने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायेगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका व खंडन मंडन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायेगा। हां जो मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य 2 समझने पर उसका मत संग्रहित होगा।"

जैसे सरल शब्द हैं ! अपने से भूल चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किस लिए ? इसलिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान लाने आए थे न कि अपनी महिमा और यश फैलाने की सकाम आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि–ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आये थे और उनके अनुयायियों ने उनके असली उद्देश्य को न समझ कर अपने आचार्यों की पूजा की स्थापना करदी। सन्त जान की पुस्तक का आरम्भ हो बतलाता है कि मसीह शब्द का प्रचार करने आया था। वह शब्द क्या है ?—

In the beginning was the World, and the World was with God, and world was God. The same was in the beginning with God.

"आरम्भ में शब्द था और शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था वही आरम्भ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने शब्द ब्रह्म के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उसके अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के ईन्जीली उद्धत लेख को पढ़कर सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धामयी वाणी समझ में आ जाती है जहां उन्होंने यह दिखलाया क्योंकि जिन महापुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्मपूजा का मार्ग दिखाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरू करादी अपने विषय में लिखा है—"मैं हूं परम पुरुष को दास।"

परन्तु स्वामी दयानन्द ने भ्रमयुक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि सारे संसार का माननीय धर्म पथ प्रदर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त आचार्य उसी का प्रचार करते रहे और इसलिए जैसे उन का भी वेद विरुद्ध लेख प्रमाण नहीं हो सकता वैसा ही मेरा भी लेख, यदि वेद विरुद्ध हो तो उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों की कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परन्तु स्वार्थवश निर्बलमनुष्य बार बार सचाई को भूल जाते हैं और इससिए ज्ञान नेत्रों पर उनके अपने डाले हुए पर्दों के बारम्बार हटाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धांत की ओट में स्वार्थ सिद्धि

आर्य समाज में जो नित्य नए बखेड़े जो खड़े हो जाते हैं उनका कारण अधिकतः स्वार्थ और अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करके भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किया जा सकता है, परन्तु स्वार्थ ऐसे यन्त्र के मार्ग में बड़ा भारी कंटक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न भिन्न किया जा सकता है परन्तु उसके मार्ग में सिद्धान्तों का ढकोंसला रुकावट पैदा करता है। सिद्धान्त बिना तो कोई भी दार्शनिक धार्मिक सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता उस पर मेरा कटाक्ष नहीं। आर्य समाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से द्वेष हो गया हो। वह उपदेशक जो पौराणिक पण्डितों क इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक सिद्धान्तों का मूल द्वारा समर्थन करेंगे जब अपने साथ न सहमति रखने वाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उसमें यह छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानन्द के किस अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिए। सत्यार्थप्रकाश में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आन्दोलन करके कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे सिद्धान्तों से गिरा हुआ समझा जाता है। चिरऋषिदया-

नन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयम् ही निर्णय करते हैं, दूसरों को उसमें ननुनच करने का अधिकार नहीं देते।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी-कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्बलता का कारण होता है। सोलह वर्ष हुए जब ऋषि दयानन्द के लेखों के निभ्रांत होने व न होने पर 'कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों'' में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निभ्रान्ति मानते हैं। यह दूसरी बात है कि "महात्मा पार्टी" के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा केवल यहं थी कि आचार्य दयानन्द का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष उसे वेद-विरुद्ध न सिद्ध कर दे; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदभाष्य में भूलें अवश्य मानते थे। परन्तु जब उसी समय उनके नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं० गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थ प्रकाश में भूल मानते हैं व नहीं तो उत्तर मिला - "हम सत्यार्थ प्रकाश का एक एक शब्द ठीक मानते हैं"। ये अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोक लज्जा ने ही कहलवाई। उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी "निगूरा" कह कर ही उन्हें मूर्ख मंडली की दृष्टि में गिरा कर पराजित कर देगा। सारांश यह कि सत्यार्थ प्रकाश के एक 2 शब्द का समर्थन अविद्यावश स्वार्थ और झूठी लोक लज्जा में फंस कर ही किया जाता है। इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष पक्षपात और लोक लज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थ प्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में है।

सत्यार्थ प्रकाश की वास्तविक स्थिति

वेद के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध में कोई भी भूल नहीं, यह आर्य समाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए निभ्रांत है। सत्यार्थ प्रकाश मनुष्यकृत है। और इसलिए उसमें भूल की संभावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश मे वही सब छपा है जो ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था। जहां छापे की अशुद्धियां प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहां कई स्थानों में लिखे ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर सहित पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पण्डितों का हस्तक्षेप दिखाई देता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेदभाष्य में संस्कृत भाग जहां ऋषि दयानन्द का लिखाया हुआ है वहाँ आर्य भाषा का अनुवाद रूप भीमसेन और ज्वालादत्तादि पण्डितों का है। वेदांग प्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पण्डितों ने थे

और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ पैर मारने का प्रयत्न किया था। मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्र व्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने सम्वत् 1966 में छपवाकर प्रकाशित किए थे। उस पत्र व्यवहार से यहां सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ का कुछ छपवा देते थे। इसके सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। व्याकरण के स्त्रैणसिद्धित विषयक ग्रन्थ का एक लेख भीमसेन ने ऋषिदयानन्द के पास देखने को भेजा। वह पत्र व्यवहार के पृ० 50 से 53 तक छपा है। उसको बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषिदयानन्द ने छपने को लौटा दिया। वह पृ० 54 से 56 तक दिया गया है। इस पर ऋषिदयानन्द का नोट प्रबन्धकर्ता वैदिक प्रैस के नाम बड़ा द्योतक है—"तो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन मंडन और धर्माधर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हम को दिखलाए विना कभी न छापना चाहिए। यह मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाए बिना छाप देते तो हमको इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता। भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उसका पाण्डित्य है। अन्यत्र यह बालक है। इसको इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या 2 कहां विरोध होकर क्या 2 विपरीत परिणाम होंगे। इसलिए यह नोट जैसा शोध कर भेजा है वैसा ही छपवाना।" आज शोक से देखा जाता हैं कि ऋषिदयानन्द का संशोधन नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा।

(असाभ्य)

(संद्धर्भ प्रचारक, भाग 27, फाल्गुन। सम्वत् 1972 पृ० 3-4 से साभार)

—0—

स्वामी श्रद्धानन्द का शिक्षा दर्शन-3

ले० – माननीय बलभद्र कुमार हूजा,

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

ब्रह्मचारी कौन है ? वह कैसे ब्रह्म में विचरता है ? वह किस प्रकार ब्रह्म में विचरने योग्य शक्तियों को प्राप्त करता है ? यह सब ब्रह्मचर्य सूक्त के पिछले चार मंत्रों में बतलाया गया है। इस प्रकार अगले मन्त्रों में ब्रह्मचारी को विभिन्न शक्तियों और उपलब्धियों का वर्णन है।

पांचवें मंत्र में कहा गया है कि "वह ज्ञान से पहिला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी दीप्त रूप को प्राप्त होकर तप से ऊंचा उठता है। उससे सबसे बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण पैदा होते हैं और सब विद्वान अमृतत्व सहित उत्पन्न होते हैं।

जन्म से तो सभी शूद्र ही होते हैं लेकिन बाद में अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में प्रवेश करते हैं। केवल तप से ही ब्रह्मचारी प्रकाशित होकर ऊंचा उठता है। स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का प्रभाव हुआ है उसी तप के बल तीनों (ज्ञान, कर्म उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिसके द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्म वेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्म वेद की ओर चर गतिमान होकर जिसने पहिले उसमें गमन करके उसको प्राप्त किया इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है।

पृथ्वी पर ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है क्योंकि वही धर्म के खजाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है क्योंकि वह इन्द्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पालन करता हुआ भी इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता। वह इतना ऊंचा उठता है कि उसे भोग नहीं खींच सकते।

आगे चलकर स्वामी जी लिखते हैं कि यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है, एवं सब यज्ञ पुरुषों को विषयों में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुओं को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान ने धर्माधर्म का निर्णय करने के

लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा जुदा जानने वाले तीन धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी है, उसको बड़े-बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

स्पष्ट है कि यदि किसी व्यक्ति का आचरण उपरोक्त अनुसार नहीं है तो वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता।

संसार में जब जब गुरु शिष्य परम्परा में बाधा पड़ती है तब ही अधर्म और अशान्ति का दौर दौरा चलने लगता है। जब जब भी ब्रह्मचारी का आदर्श सर्व साधारण की आंखों से ओझल हो जाता है तब तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल होकर पुकारता है। जब प्रजाके इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

छठे मन्त्र में कहा गया है कि "जो ब्रह्मचारी समिधा से प्रकाशित काले मृग का चर्म धारण किये बढ़ी हुई दाढ़ी मोंछ वाला दीक्षित होकर चलता है वह शीघ्र ही इस पहिले से ऊपर के समुद्र को प्राप्त होता है और लोक संग्रह करके बारम्बार अभिमुख करता है।

ब्रह्मचार्य अवस्था साधन काल है इसमें मनुष्य साधन सम्पन्न बनता है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता को त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है।

ब्रह्मचारी को एक धुन लगी है, और वह धुन है—तत्वान्वेषण की। इसके लिए वह संसार के सुखों को न्योछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। जिस आश्रम-निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी गर्मी की ताड़ना से ऊंचे उठकर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है, वही दीक्षा का अधिकारी होता है। चाहे वह पाठ विधि समाप्त भी कर चुका हो परन्तु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकारी उसी समय होता है जब कि वह व्रतंस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त करले। तब वह पहिले समुद्र को लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहला समुद्र है। जिसने इस समुन्द्र में गोते खाये हों, जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोगकर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों कर सकता है? अविद्याने उसे अन्धा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ रूपी समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ अहंकार रूपी बड़े बड़े मगरमच्छ मुंह खोले विचर

रहे हैं, भयंकर भोग की लहरें उठ रही हैं–वहां इन्द्रिय दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है ।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण ब्रह्मचारी किस लिए तैयार करता है ? क्या विषयों का दास बनने के लिए ? स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं कि यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब ? ब्रह्मचारी सारी तैयारियां इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूलकर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःख हरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने । ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त के गुरुकुलों को था । क्या वह समय फिर लाया जा सकता है ? यदि नहीं तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिये ।

यह भी सामयिक चुनौती, जिसको लेकर महात्मा मुँशीराम ने गुरुकुल की स्थापना की । स्वामी दयानन्द के देहावसान के बाद उनके अनुयायियों ने आर्य समाज के नियमों की पूर्ति हेतु देश में जहां तहां डी.ए.वी स्कूल खोलने आरम्भ कर दिये थे । परन्तु महात्मा मूंशीराम के इस आंदोलन से सन्तुष्टि नहीं हुई . उनका विचार था कि डी.ए.वी. आन्दोलन स्वामी दयानन्द के लक्ष्यों को पूरी तरह सरंजाम नहीं दे पायेगा । इसमें यथेष्ट उग्रता नहीं है । इसमें तप, साधना, और कठोर जीवन पर यथेष्ट बल नहीं दिया जा रहा । देश को निस्वार्थ, तपस्वी, व्रती, पराक्रमी, ब्रह्मचारियों की आवश्यकता है-जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे मगरमच्छों का मुकाबला करने की शक्ति रखते हों ।

आर्य समाज का एक नियम है कि सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए । आज यदि हम सत्य साक्षात्कार करने को तैयार हैं तो हमें मानना होगा कि देश की सब भयंकर समस्यायें गरीबी और विषमता की हैं और उनके मुख्य कारण हैं, काम और लोभ । हमें इन दो बैरियों को पराजित करना होगा । काम के कारण जनसंख्या वृद्धि होती है और जनसंख्या वृद्धि से गरीबी बढ़ती है । जमाना था जब देश में जनसंख्या बढ़ाने की आवश्यकता थी । तब यह व्यवस्था दी गई थी कि दस तक संतान पैदा करो । आज देश में जन संख्या की बाढ़ आई हुई है । आज के ऋषि मुनि यह व्यवस्था दे रहे हैं कि दो से कम संतान पैदा करो । अर्थात हो सके तो शून्य संतान पैदा करो । रुद्र ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करो, ताकि कामादि मगरमच्छ तुमसे डरें और रोयें ।

इसी तरह यदि गम्भीरता से सोचा जाये तो विषमता की महामारी का कारण है, लोभ, परिग्रह वृत्ति और अहंकार की भावना । यथा राजा तथा प्रजा । आज देश को आवश्यकता है ऐसे कठोरव्रती महाबली ब्रह्मचारियों की जो अपरिग्रह और अस्तेय

का व्रत धारण करें, जो पदलोलुपता के शिकार न हों, जो पदों की खातिर अनैतिकता की दल दल में न फंसे, जो इस बात की चिन्ता न करें कि हमें राष्ट्र से क्या प्राप्त होता है, जो इस बात की चिन्ता करें कि हम राष्ट्र को क्या दे रहे हैं। दहेज और छूत छात की बीमारियों की जड़ में लोभ और अहंकार का कीड़ा लगा हुआ है। आखिर हम सभी एक परम पिता के बच्चे हैं, सभी ईश्वर पुत्र हैं। कौन ऊंचा? कौन नीचा? यह तो कोरी आसुरी वृत्ति है; एक आदर्श समाज में सब को एक जैसा खाना मिलना चाहिये, सब एक जैसे पहिने, सब एक जैसे रहें, ऊंच नीच का कोई भेद नही होना चाहिये। तभी आपस में प्रेम होगा, तभी राष्ट्र दृढ़ होगा, सुरक्षित होगा।

जब तक देश में कर्त्तव्य निष्ट, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, तत्वान्वेशी, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु जैसे ब्रह्मचारियों का समुदाय पैदा नहीं हो जाता देश का भाग्य अधर में लटकता रहेगा। इसी उद्देश्य को लेकर महात्मा मुंशीराम अपने पुत्रों सहित गंगा के किनारे विकट बनों में गुरुकुल स्थापित कर के जा टिके थे। इतिहास साक्षी है कि गुरुकुल से निकले हुए व्रती स्नातकों ने राष्ट्रोत्थान के महान काम में बड़ी जरूरी भूमिका निभाई है, आज फिर वक्त आ गया है जब गुरुकुल के संचालकों एवं आचार्यकुल को सोचना है कि वह गुरुकुल को किधर ले जा रहे हैं? क्या वह गुरुकुल की पुण्य भूमि में गुरुकुलीय मर्यादाओं का पालन कर रहे हैं? यही प्रश्न गुरुकुल के स्नातक मंडल के सामने भी है? गुरुकुल के स्नातक कुलमाता की सेवा से कैसे विमुख हो सकते हैं?

(सार्वदेशिक साप्ताहिक दि० १३.३.१९७७ से साभार)

—0—

वैदिक रश्मि

(सम्पादक—आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार)

षष्ठ रश्मि

अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ —साम० पू० मं० 22

सं० अन्वयार्थ :—(अग्नि: न- रयि वंसते) अग्नि हमें रयिधन देता है।

अन्वयार्थ :—(अग्नि: नः रयि वंसते) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय, तेजोमय प्रभु हमें रयि अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान करें।

व्याख्या :—जो अग्निस्वरूप है, ज्योति: स्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, तेज: स्वरूप है, ओज: स्वरूप है जो सारे संसार को अपनी ज्योति से ज्योतिर्मय बनाता है, अपने प्रकाश से प्रकाशमय बनाता है, अपने तेज से तेजोमय बनाता है, अपने ओज से ओजोमय बनाता है; जो सब संसार का अग्रणी-अगुआ बनकर सबका नेतृत्व करता है, जो सबको अनुशासन में रखता है। फिर जो उसके अनुशासन में ठीक चलता है वह उसे जानता है, और जो उसके अनुशासन में ठीक नहीं चलता उसे भी वह सवज्ञ भगवान् भली भांति जानता है। इसीलिए ही तो वह उसको प्यार देता है और उसको दण्ड देता है।

वह केवल इस अग्नि विद्युत् चन्द्र सूर्य आदि के द्वारा ही सबको प्रकाश नहीं देता वरन् वह तो वेद द्वारा भी सबको ज्ञान देता है, ताकि अग्नि विद्युत चन्द्र सूर्य आदि के प्रकाश में जैसे मनुष्य गर्तम गिरते और ठोकर खाने से बचता है वैसे ही वह ज्ञान के प्रकाश में पापों और अपराधों से भी बच सके। पर अगर कोई वेद को भी न पढ़े और न ही किसी ज्ञानी ध्यानी विद्वान् के ही समीप सत्संग के लिये जाए तो ऐसे मनुष्य पर भी वह प्रभु कृपा करता है, तभी तो वह उसे भी भीतर से सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह उसे भी प्रत्येक भले-बुरे कार्य पर अपना मूल्यवान् सुझाव देता है। यदि कोई उसके लिये अच्छा नहीं होता तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे भय शंका और लज्जा का बोध देता है। और अगर उसके लिए वह कार्य हितकारी होता है तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे आनन्द उत्साह और निर्भयता प्रदान करता है। यही उस प्रभु का उसको हर बुरे कार्य से पृथक् करने और हर उत्तम कार्य में लगे रहने की

प्रेरणा देने का अपना एक अद्वितीय प्रकार-तरीका है। ऐसा वह ज्योतिर्मय तेजोमय परम पिता परमात्मा हमें केवल यह ज्ञान प्रकाश आदि ही नहीं देता वरन् वह तो हमें सब प्रकार का रयि-धन-वैभव-ऐश्वर्य भी प्रदान करता है। रयि जो कि प्रभु हमें प्रदान करता है वह केवल इसलिये ही नहीं होता कि उससे हम केवल अपने खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, रहने-सहने, घूमने-फिरने, देखने-भालने, सुख-आनन्द, प्राप्त करने के साधनों को खरीद कर केवल स्वयं ही सुख भोगते रहें, वरन् इसलिए भी प्रदान किया है कि समय आने पर हम उस रयि को—उस धन-वैभव को परोपकार में भी लगा सकें, उसका दान भी कर सकें, उससे औरों को भी खिला-पिला सकें, उससे औरों को भी पहना-ओढ़ा सकें, उससे, औरों को रहने-सहने आदि की सुख-सुविधायें उपलब्ध करा सकें।

इसी कारण से वह प्रभु जहां हमें अपने जीवन में सुख-शन्ति पूर्वक जीने के लिये रयि-नानाविध ऐश्वर्य प्रदान करता है वह वहां इस रयि का-इस ऐश्वर्य का हमें सम्भजन करना भी सिखाता है। वह ज्ञानस्वरूप प्रभु हमें वेदज्ञान द्वारा, संसार के नानाविध उदाहरणों द्वारा तथा भीतर से सत्प्रेरणा द्वारा सदा यह सिखाता रहता है, "हम प्रभु को न्याय व्यवस्था से जो ऐश्वर्य प्राप्त करें, उसे ब्रह्मयज्ञ में लगाएं, उसे देवयज्ञ-अग्नि होत्र आदि उत्तम कर्मों में लगाएं उसे हम ज्ञानी विद्वान सन्यासी तपस्वी आदि श्रेष्ठ अतिथियों के मान सम्मान में–सेवा सत्कार में लगायें। अर्थात् हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जो जन सदा निःस्वार्थ भाव से समाज कल्याण के उत्तम कार्यों को करते रहते हैं वे कहीं भूखे न रह जाएं, कभी सर्दी गर्मी से पीड़ित न हो जाएं, उनके समाज कल्याण के कार्यों में कहीं अवरोध न आ जाए इसलिए हमें उनके भोजन–आच्छादन, सुख-सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई अभ्यागत आ जाए तो उसको भी हमारे द्वारा यथाशक्ति सुख-सुविधा मिल सके ऐसा हम प्रयास करें। हमारे घरों में हमारे वृद्ध मामा-पिता, दादा-दादी आदि को भी उस हमारे धन से पर्याप्त सुख शान्ति और आराम मिले सके, ऐसा हमें

1. रयिरिति धननाम, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। –निष्टण्टु

2. वंसते-ददाति-यच्छति (भगवदाचार्य ददातु (सायण)

सदा ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रभु ने जो हमें धन-वैभव दिया है, उस में से दीन-दुःखी-अनाथों को भी भाग जाना चाहिए। मनुष्यों की तो बात दूर रही चींटियों को गौओं को कुक्कुरों को भी उसमें से भाग मिलता रहे, ऐसा हमें ध्यान रखना चाहिए।

हमें प्रभु धन देता है उसका सम्यक सभ्यजन कर के ही स्वयं उपभोग करने की प्रेरणा भी वही देता है। हमें चाहिए कि हम पांचों यज्ञों को करके ही स्वयं यज्ञशेष सेवन करें, ऐसी प्रेरणा भी सदा साथ देता रहता है। यदि हम उससे धन-वैभव पाकर उस की प्रेरणानुसार ही इस का उपयोग करते रहेंगे तो इस से हम उसके सदा स्नेह एवं कृपा के पात्र बने रहेंगे। हमें चाहिये कि हम उस से धन–वैभव' प्यार और आशीर्वाद को पाते हुए उसी की ही सत्प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करने में ही सदा तत्पर रहें।

("वैदिक रश्मियां" पृ० 40–43 से साभार)

—0—

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः
सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो
होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥
ऋ० 1-73-1॥

अर्थ :—विद्या धर्मानुष्ठान, विद्वान् पुरुषों का संग तथा उत्तम विचार के बिना किसी मनुष्य को विद्या एवं सुशिक्षा का साक्षात्कार तथा पदार्थों का ज्ञान नहीं होता और निरन्तर भ्रमणशील अतिथि विद्वानों के उपदेश के बिना कोई मनुष्य सन्देह रहित नहीं हो सकता। अतएव सभी लोगों को अच्छा आचरण करना चाहिए।

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न है

ले० डा० विजयपाल शास्त्री
एम.ए., पी-एच.डी. साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन विभाग

कलिमल से कलुषित इस सारहीन जगतीतल में यदि कुछ सार है तो वह मैत्री है। यह नयनों का रसायन है, दुःखानल से तप्त चित्त के लिए आनन्द-संदोह है, मुरझाये हुए मन-सुमन के लिए पावस की रिमझिम है, संसार की क्रूरताओं से परिप्लुष्ट हृदय पर चन्दन का अनुलेप है एवं स्वजनों और परिपन्थियों की छलनाओं से अस्तव्यस्त विचारसरणि का विश्रामोद्यान है। "केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्" सचमुच "मित्र" शब्द के दो अक्षर दो रत्न सदृश हैं। जब जब यह शब्द अन्तस्तल से टकराता है तब तब बलात् स्मृति पटल पर उभरते हैं "रश्मि रथी" में कर्णमुख से उच्चरित ये शब्द —

मित्रता बड़ा अनमोल रत्न ।
कब इसे तोल सकता है धन ।
धरती की तो है क्या बिसात ।
आ जाय अगर वैकुण्ठ हाथ ।
उसको भी न्यौछावर कर दूं !
कुरुपति के चरणों पर धर दूं !!

सोचता हूँ कितना महान् और कमनीय रहा होगा कर्ण का वह हृदय जिसने युधिष्ठिर के राज्य को मैत्री के समक्ष, तृण समझा। ऐसे महान् महनीय आचरण सम्पन्न सत्पुरुषों को जन्म देने के कारण ही यह वसुन्धरा रत्नगर्भा कहलाती है।

मैत्री क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर मैं तो यही दूंगा कि अन्तःकरण में स्थित किसी अनिर्वचनीय निमित्त से जायमान किसी का किसी में अकृत्रिम स्नेह ही मैत्री है। स्वार्थ से प्रेरित पुरुष का दूसरे पुरुष में जो भावबन्धन होता है वह मैत्री नहीं बल्कि मित्रताभास होता है। मित्र या मित्रता बनायी नहीं जाती। ये तो स्वाभाविक होते हैं। जिससे प्रेम होना होता है स्वयं हो जाता है। हमारे परिवेश में सैंकड़ों और हजारों व्यक्ति हैं किन्तु उनमें से किसी एक या दो से ही आत्मीयता हो पाती है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनके सम्पर्क में बीस वर्ष रहने पर भी वे अपरिचित से ही लगते हैं।

प्रेम की नैसर्गिकता में प्रमाण है "उत्तररामचरित" का लव और चन्द्रकेतु का युद्ध-प्रसंग। राम ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया है। अश्व के रक्षक के रूप में लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को नियुक्त किया गया है। अरण्य में घूमते हुए उस अश्व को लव ने पकड़ लिया है। इसी बात को लेकर लव और चन्द्रकेतु समरांगण में आमने सामने खड़े हैं। एक दूसरे से अनभिज्ञ, नाम गोत्र से अपरिचित दर्द और सौजन्य से पूरित, वीरोचित प्रतिद्वन्द्विता से ओतप्रोत। किन्तु अरे! यह क्या? उन दोनों में तो एक दूसरे को देखते हुए अनिर्वचनीय स्नेह का आकर्षण बढ़ने लगा। कौन सा है वह बन्धन जो इन दोनों को निकट ला रहा है? वैरभाव शान्त हो गया है। परस्पर आलिंगन के लिए मन आतुर है। क्या यह वश क्रिया ऐहिक थी? नहीं नहीं। यह वही जन्मान्तर निबद्ध अनुराग था जिसे कालिदास ने "भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" कहा है। उस अकृत्रिम एवं बद्धमूल स्नेह का निरूपण करते हुए महाकवि भवभूति ने ठीक ही लिखा है—

> व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
> र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
> विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
> द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

पदार्थों को मिलाने वाला कोई आन्तरिक कारण ही होता है। बाह्य उपाधियों के लिए प्रेम में कोई अवकाश नहीं। यही तो कारण है कि सूर्य के उदय हो जाने पर कमल विकसित हो जाता है और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकांत मणि द्रवित हो जाता है।

वस्तुतः मैत्री का कोई कारण नहीं होता। वह अहेतुक होती है। अहैतुक होती है इसीलिए स्थायी होती है। मित्र का यही वैशिष्ट्य है कि वह कुछ भी न करते हुए केवल अपने सान्निध्यमात्र से सुख प्रदान करता है। भवभूति भी कुछ ऐसा ही विचार रखते हैं—

> न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
> तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

सौहार्द दैवाधीन होता है, पुरुषाधीन नहीं होता। मित्र पुरुष का द्वितीय होता है, बहिश्चर प्राण होता है। मित्र के लिए कुछ भी गोप्य नहीं होता। व्यक्ति किसी बात को अपने भाई, पत्नी, पिता, एवं पुत्र से छिपा सकता है पर सन्मित्र के समक्ष उसका हृदय हजारों धाराओं में होकर उमड़ पड़ता है। समस्त आवरण टूट जाते हैं। औपचारिकता छिन्न हो जाती है तथा भय और औदासीन्य दूर भाग जाता है। इसी लिए नीतिशास्त्रों में बहुधा सन्मित्र की प्रशंसा की गयी है —

यस्य मित्रेण संलापो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संभाषस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ।।

अर्थात उस पुरुष के समान भाग्यशाली कोई दूसरा नहीं जो नित्य अपने मित्र के साथ निवास करता है, नित्य हास-परिहास में निरत रहता है और नित्य संभाषण में समय बिताता है ।

प्रेम का बन्धन भी विचित्र बन्धन है । इसके सामने बलशालियों का बल तुच्छ है, अभिमानियों का गर्व नगण्य है, दुराग्रहियों की ग्रहग्रन्थि सारहीन है । क्या कारण है कि जो भौरा काष्ठ की कठोर कारा को भेद कर इस पार से उस पार निकल जाता है वह जब कमल की कोमल पंखड़ियों में बन्द हो जाता है तो इतना बेबस हो जाता है कि वह सारी शक्ति लगाकर भी बाहर नहीं आ पाता ? प्राचीन मनीषियों का यह विचार शतशः वास्तविक है—

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृत बन्धनमन्यत् ।
दारुभेद निपुणोऽपि षडंध्रि—
निष्क्रियो भवति पंकज कोषे ।।

मैत्री अनेक कारणों से होती है, किन्तु यह सकारण मैत्री वास्तविक नहीं बल्कि उसका आभासमात्र होती है । सामान्य लोगों की मित्रता उपकार से होती है । मूर्खों की मित्रता भय अथवा लोभ से होती है किन्तु सज्जनों की मित्रता दर्शनमात्र से होती है । मेरा अपना अनुभव है । कई अवसरों पर ऐसे लोगों से परिचय होता है जिनको देखकर लगता है कि जैसे वर्षों से उन्हें जानता हूँ । कई बार ऐसे भी लोग मिले जिनके प्रथम सम्भाषण से ऐसा मन करता था कि अपना सर्वस्व उस पर न्योछावर कर दिया जाये । क्या आपको कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ ? किन्तु साहब ! एक बात और कहना चाहूंगा जिसे कहते हुए वाणी मुखर नहीं हो पा रही है । मित्रता में जहां इतने गुण हैं वहां इसके दुश्मन भी कम नहीं हैं । न जाने क्यों दो मित्रों के प्रगाढ़ स्नेह को देखकर कुछ लोग अकारण ही जल उठते हैं ? यह अनुभव सिर्फ मेरा ही नहीं कविवर बिहारी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी । तभी उन्होंने शायद व्यथित मन से कहा है—

दृग उरम्मत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गांथ दुरजन हिये दई नई यह रीति ।।

आंखों से आंखें मिलने पर जब दो हृदयों में प्रेम का बीज अंकुरित होता है तो सबसे पहले परिवार से सम्बन्ध टूटता है। परिवार के प्रौढ़ व्यक्ति अनिष्ट की आशंका से दो हृदयों के मिलन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। चलिये परिवार की इस अप्रसन्नता को यदि सकारण और सोद्देश्य मान भी लिया जाय, लेकिन दुर्जनों के हृदय में गांठ क्यों पड़ती है ? इसका कारण कोई खोज नहीं पाया। शायद ऐसे ही लोगों के लिये भर्तृहरि ने "ते के न जानीमहे" कहा था। वस्तुतः प्रेम की रीति बड़ी विचित्र है। इसी से मिलते जुलते विचार रतनहज़ारा के कवि के भी हैं—

अद्भुत गति यह प्रेम की।
लखौ सनेही आय।
जूरै कहूं टूटे कहूँ।
कहूँ गांठि परि जाय॥

लेकिन साहब ! दुर्जन जलते हैं तो जलने दो। इसमें हमारा वश भी क्या ? उनके सामने तो तुलसीदास को भी हार माननी पड़ी थी। वे दुर्जनों से घबराते थे। तभी तो उन्होंने कह डाला—

वड़ भल वास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता॥

हे प्रभु ! नरक में निवास करना अच्छा है। किन्तु दुष्टों का साथ न दें।

विश्व का इतिहास उठा कर देख लो। दुर्जनों से सज्जनों ने सदा हार मानी है। इसीलिए किसी संस्कृत कवि को कहना पड़ा — दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्। बिहारी का अनुभव दुष्टों के विषय में सबसे अधिक कटु था। वे तो यहां तक कहते हैं कि संसार में बुरे लोगों का ही सम्मान होता है। विश्वास न हो तो पढ़ लीजिये इस दोहे को—

बसै बुराई जासु तन ताहि को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये खोटे ग्रह जप दान॥

लेकिन मित्रो ! यदि बुरे लोग अपनी बुराई न छोड़ें तो क्या सत्पुरुषों को अपनी अच्छाई छोड़ देनी चाहिए। नहीं, कदापि नहीं। मेरा तो यही कहना है कि दुर्जनों की दुर्जनता के इस पंक में आपका अनमोल मैत्रीरत्न न खो जाए। तीक्ष्ण कण्टकों से आच्छन्न संसार के इस अरण्य में मैत्री ही आपकी रक्षा करेगी। इस अनमोल रत्न को छीनने के लिए अनेक दस्यु आपके आसपास घूमते हैं। उनकी कुदृष्टि से इसे बचायें। यदि आपका कोई सन्मित्र है तो आप पुण्यशाली हैं। क्योंकि—अमित्रस्य दिशः शून्याः— मित्रहीन की सब दिशाएं सूनी होती हैं।

—0—

"गोहत्या और वैज्ञानिक"

ले० डा० त्रिलोक चन्द्र
प्रवक्ता, दर्शन विभाग

भारतवर्ष में गाय का महत्व बहुत अधिक है। यहां की संस्कृति का गाय से विशेष सम्बन्ध है। गऊ को माता कह कर पुकारा जाता है। प्राचीन समय में तो आर्थिक स्थिति भी प्रायः गाय पर ही निर्भर थी। जिसके यहां जितनी अधिक गायें होती थीं, वह उतना ही अमीर आदमी माना जाता था। गाय का दूध और दूध से बनी चीजें मनुष्य का मुख्य भोजन था। उसके गोबर से खाद तैयार होती थी। गाय के बछड़े बड़े होकर बैल बनते हैं, जिनसे खेती होती थी। आज भी भारतवर्ष में अस्सी प्रतिशत से अधिक भूमि पर बैलों से ही खेती होती है। गाय का दूध बहुत ही पवित्र, सात्विक तथा दैविक गुणों से भरपूर माना जाता है परन्तु इतना सब होते हुए भी भारत जैसे धार्मिक देश में गोहत्या होती है।

अब प्रश्न है कि गौहत्या कैसे बन्द हो? महात्मा गांधी ने गौहत्या को भारत के लिए एक कलंक कहा है। आचार्य विनोबाभावे ने भी इसके लिए अनशन किया है। हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय भी इसके लिए प्रयास करते रहते हैं, परन्तु सफलता कुछ भी नहीं मिली।

संसार में देखा जाता है कि जिस चीज का उपयोग जितना अधिक होता है, उतनी ही उसकी मांग बढ़ जाती है और जिसका उपयोग नहीं होता लोग उसे नहीं रखते। विज्ञान के इस युग में बहुत सी चीजों का उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है और इस उपयोग को बढ़ाने का कार्य प्रायः वैज्ञानिकों ने किया है। वैज्ञानिक यदि चाहें तो वे गाय का महत्व और अधिक बढ़ा सकते हैं। इसके लिए निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं, जिससे गाय का उपयोग बहुत अधिक बढ़ जायेगा—

भारत में बहुत सी गायें दूध बहुत कम देती हैं। दक्षिण भारत में तो अधिकतर गायें ऐसी हैं, जो प्रतिदिन एक सेर दूध भी बड़ी कठिनता से दे पाती हैं। कुछ गायें वैसे ही रह जाती हैं। न वे ग्याभिन होती हैं न दूध देती हैं। ऐसी स्थिति में इस मंहगाई के समय में, जबकि एक गाय पालने पर काफी खर्च आता है, कौन गाय

पालेगा ? अब वह समय तो रह नहीं गया जब बड़े-बड़े जंगल चरागाह के रूप में पड़े रहते थे और गाय आदि पशु उनमें चरते थे तथा गाय पालना थोड़ी सी मेहनत के अलावा शेष सब मुफ्त ही था। अब ज़रा-ज़रा सी चीजों पर काफी व्यय होता है। सौ रुपये माह का तो एक गाय का चारे का ही खर्च आता है। खली, दाना आदि अलग रहे। फिर कुछ गायें चार महीने दूध देतीं हैं तो आठ महीने खाली रहती हैं अत: —

(1) वैज्ञानिक अपने अनुसन्धानों द्वारा ऐसा कार्य करें जिससे गाय में दूध की मात्रा बढ़ जाये, जिससे गाय बालक को ज्यादा उपलब्धि हो सके।

(2) बहुत सी गायों में जो ग्याभिन न होने या बार बार ग्याभिन होकर भी ग्याभिन न रहने की बीमारी है, उसे दूर करें, जिससे सभी गायें दूध दे सकें।

(3) गाय से प्राप्त होने वाले दूधादि पदार्थों पर खोज करके पता लगायें कि उसके और क्या क्या उपयोग हो सकते हैं ? कौन कौन सी बीमारियों में गाय का दूध लाभ पहुँचा सकता है ? इसी प्रकार और भी गाय पर नये नये अनुसन्धान किये जा सकते हैं।

उपरोक्त से गाय की उपयोगिता बढ़ेगी। गाय के पालने के लिए किसी को कहने की आवश्यकता नही पड़ेगी। लोग स्वयं गाय पालेंगे। बेरोजगारी के वर्तमान समय में गाय रोज़गार का एक साधन बनेगी। उसके अमृत-रूपी दूध की कीमत बढ़ेगी। प्राचीन काल में एक परिवार का खर्च वहन करने में चाहे वह पूर्णरूप से सक्षम न रही हो, पर इस मंहगाई के समय में एक अच्छी गाय एक सीमित परिवार का समस्त खर्च वहन करने में सक्षम होगी। बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा। इन कारणों से गाय की कीमत इतनी बढ़ जायेगी कि किसी कसाई के लिए कोई गाय काटने के लिए असम्भव हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि वह ऐसा करेगा ही नहीं। निम्नलिखित दो उदाहरणों से हम अपने विचार की पुष्टि कर सकते हैं—

(क) यह उदाहरण भैंसे का है, जिसकी लगभग पैंतीस चालीस बर्ष पूर्व कोई कीमत नहीं थी। यदि किसी व्यक्ति की भैंस कटिया (स्त्रीलिंग बच्चा) देती थी तो वह प्रसन्न होता था। परन्तु यदि बच्चा कटड़ा (पुल्लींग बच्चा) होता था तो उसे एक भार समझता था, क्योंकि उसका उपयोग कुछ भी नहीं था। जब तक भैंस दूध देती थी, वह जैसे तैसे उसे रखता था, क्योंकि भैंस को दुहने के लिए प्रातः और सायं दोनों समय उसकी आवश्यकता पड़ती थी। भैंस जब दूध देना बन्द कर देती थी तो वह उसे

कसाई को देता था। अधिकतर हिन्दु सीधे कसाई को देना पाप समझते थे। वे उसे जमादार को दे देते थे और जमादार दो-चार रुपये में उसे कसाई को देता था। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि घूम-फिर करके हर हालत में वह कसाई के यहां ही जाता था। कसाई बड़े निर्मम ढंग से उसकी हत्या करके उसका मांस बेच देता था। बस यही उपयोग था उस बेचारे का।

समय ने करवट बदली, किसानों और खेती की तरक्की का समय आया। सरकार और वैज्ञानिकों ने इस ओर ध्यान दिया, जो किसान पहले सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी का प्रयोग करता था, जिसे दो बैल एक साथ जुड़कर खींचते थे, उसके लिए बुग्गी का आविष्कार हुआ, जिसे अकेला भैंसा खींचता है। किसान का सामान ढोने का समस्त कार्य अकेला भैंसा ही करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य कार्य करता है। किसान को उससे बहुत लाभ है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में वर्तमान समय में यह स्थिति है कि जिस किसान के पास भैंसा नहीं उसे बहुत ही हेय-दृष्टि से देखा गया है, उसे पिछड़ा हुआ किसान माना जाता हैं जबकि पहले भैंसे का रखना निन्दनीय माना जाता है। आज एक अच्छे भैंसे की कीमत भी तीन हजार रुपये से कम नहीं है। आज यदि किसी की भैंस कटड़ा देती है तो वह प्रसन्न होता है, क्योंकि उसकी कीमत है। अब कटड़ों की हत्या प्रायः नहीं के बराबर हो गयी है। ऐसा करवाने के लिए किसी को अनशन करना नहीं पड़ा। उपयोग बढ़ने से स्वयं ही ऐसा हो गया।

(ख) दूसरा उदाहरण यूकेलिप्टिस के वृक्ष का है। वर्तमान युग में इसका प्रचलन बहुत बढ़ रहा है। यहां तक कि आम के वृक्ष कटवाकर यूकेलिप्टिस के पौधे लगवाये जा रहे हैं। विचारणीय बात है कि आम जैसा वृक्ष, जिससे सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है, जिसकी छाया बहुत सुख देने वाली होती है, जिसकी लकड़ी विभिन्न प्रकार के कार्यों में काम आती है और यूकेलेप्टिस की न छाया है और न ही कोई फल प्राप्त होता है। यूकेलेप्टिस जैसे लम्बे वृक्ष खजूर को देखकर किसी कवि ने कहा था—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं फल लागे अति दूर॥

खजूर पर तो दूर ही सही पर फल लगता है। यूकेलिप्टिस पर तो वह भी नहीं। फिर भी वैज्ञानिकों ने इसे ऐसा बना दिया कि वह आज का सबसे अधिक चर्चित वृक्ष है। जंगल के जंगल यूकेलिप्टिस के पौधे लगाये जा रहे हैं। वह तो आम को भी पीछे छोड़ गया है।

इस प्रकार यदि गाय की उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया जाय, किसी भी गाय को बेकार न रहने दिया जाय तो गौहत्या स्वतः ही बंद हो जायेगी। किसी को इसके लिए अनशन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और वह कार्य करा सकते हैं, वैज्ञानिक।

—0—

संविधान का पचीसवाँ अनुच्छेद

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री,

एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता दर्शन विभाग

पंजाब की जटिल समस्या, जो वस्तुत: न तो जटिल है और न समस्या ही है, ने आज प्रत्येक देश भक्त भारतीय का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कुछ समस्याएं अनजाने और अनचाहे उपस्थित हो जाती हैं किन्तु कुछ समस्याएं जानबूझ कर बनायी जाती हैं। पंजाब की आधुनिक समस्या भी एक ऐसी ही समस्या है जिसे चतुर राजनीतिज्ञों ने संकीर्ण स्वार्थवश पाला हुआ है।

आजकल संविधान के अनुच्छेद 25 की चर्चा प्राय: की जा रही है जिसे अकालियों ने संसद भवन के समक्ष 27.2.84 को सामूहिक रूप से जलाने का प्रयास किया और शायद जला भी दिया। इसी प्रसंग में जिज्ञासा होती है कि आखिर संविधान के अनुच्छेद 25 में ऐसी आपत्तिजनक कौन सी बात है जिस पर सिक्खों ने इतना बावेला मचा रखा है ? आइये देखें कि अनुच्छेद 25 क्या है—

25 (1) सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट न डालेगी जो—

(क) "धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक वित्तीय राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निबन्धन करता हो।"

(ख) "सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो।"

उपर्युक्त दोनों अनुबन्धों की व्याख्या करते हुए पुनः कहा गया है—

1. कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जायेगा।

2. खण्ड (२) के उपखण्ड (ख) में हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिख जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों का भी निर्देश अंतर्गत है तथा हिंदू धर्म संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही दिया जायेगा।

यह है अनुच्छेद २५ जिस पर कुछ उग्रपन्थी अकालियों की आपत्ति है। आपत्ति का स्थान यह है कि हिंदुओं के अन्तर्गत सिखों की गणना क्यों की गयी? क्यों न उसे एक पृथक् कौम का दर्जा दिया गया और पृथक् कौम मानकर क्यों न उन्हें राष्ट्र घोषित किया जाता? इसीलिए यह अनुच्छेद जलाया गया। जलाया भी उन लोगों ने जो स्वतन्त्र भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग भारतीय नागरिकता के नाते कर रहे हैं, जिनको इसी संविधान ने मुख्य मंत्री बनाया और उनकी तथा कथित कौम का व्यक्ति ही भारत के सर्वोच्च पद पर आसीन है।

मैं इन लोगों से पूछता हूँ कि सिख हिन्दू नहीं हैं? जब सिख सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वे क्या थे? क्या वह हिंदू से कोई इतर जाति थी? सिखों का प्रादुर्भाव समय-सापेक्ष था। गुरु गोविंद ने लड़ाकू सेना के निर्माणार्थ एक विशिष्ट वेशभूषा के साथ अपने शिष्यों का आह्वान किया था। केशों का रखना सिर की सुरक्षा के लिये था ताकि शस्त्र का आक्रमण सिर को हानि न पहुंचा सके। कड़ा भी हाथ की रक्षा के लिये था ताकि कृपाण का प्रहार यदि हाथ पर किया जाय तो वह कट कर न गिर पड़े। कच्छा चुस्ती के लिये था। कंघा केश प्रसाधन के लिये था। कृपाण प्रहार के लिये था। परिस्थितियां बदल गयीं। सिखों की वेशभूषा का उद्देश्य पूर्ण हुआ। इसके पश्चात् भी यदि वे अपनी उसी वेशभूषा को स्थायी रूप से रखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है? इस पर किसी भारतीय को आपत्ति नहीं। किंतु क्या इस वेश-परिवर्तन से उनकी हिंदू जाति भी बदल गयी?

विश्व में सात आश्चर्य हैं। मेरे विचार से इसमें एक और आश्चर्य जोड़ दिया जाना चाहिए। वह आश्चर्य है हमारी सरकार का भोलापन। कौन नहीं जानता कि पंजाब की समस्या केवल चण्डीगढ़ के बंटवारे की ही समस्या नहीं है। यह समस्या है सत्ता को प्राप्त करने की। यह समस्या है घृणित राष्ट्रद्रोह की। यह साजिश है कुछ विदेशी शक्तियों की जो भारत की उन्नति को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहते। किन्तु वाह री सरकार कुर्बान जाऊं तेरी सादगी पर।

हमारी सरकार इसे चण्डीगढ़ की समस्या मानती है। भोलेपन की सीमा तो देखिये कितने आश्चर्य की बात है ! कि हमारी सरकार अपराधियों के सामने हाथ जोड़े खड़ी है और भीख मांग रही है शान्ति की। कितने प्यार से कहते हैं हमारे नेता—हम गुरद्वारों में नहीं घुसेंगे। कत्ल करो और चले आओ गुरद्वारों में। मन्दिरों की बात और है। वे तो ठहरे दयालु लोगों के, जहां सब कुछ माफ है। डर है तो उन लोगों से जो घर में घुस कर मारते हैं किन्तु भारतीय लोगों से मेरा कहना है कि तुम सन्तोष में विश्वास रखो। सन्तोष का फल मीठा होता है। संविधान तो कागज है। जल जायेगा तो दोबारा बन जायेगा। पच्चीसवां अनुच्छेद ही क्यों ? सम्पूर्ण भी जल जायेगा तो सरकार और बना देगी। संविधान में संशोधन भी करना पड़े तो कौन सी बड़ी बात है ? आखिर शक्ति के सामने कौन नहीं झुकता ? तुम भगवान् का भजन करो और याद करते रहो कबीर के इस दोहे को—

कबिरा तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।
जैसी करनी वैसी भरनी तू क्यों होय उदास ।।

— 0 —

ओ३म् भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

अर्थ :—जो सभी का रक्षक, समस्त जगत् का प्राण. सभी दुःखों को दूर करने वाला, सब सुखों का दाता परमेश्वर है वह सर्वव्यापक एवं सबको उत्पन्न करने वाला है। सर्वश्रेष्ठ एवं ग्रहण करने योग्य शुद्ध स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त देव का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करे।

पुस्तक समीक्षा

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री
एम०ए० साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, प्रवक्ता, दर्शन विभाग।

पुस्तक का नाम	...	"प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग"
लेखक	...	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
प्रकाशक	...	श्री सरस्वती सदन, मसूरी
कुल पृष्ठ	...	३०४
मूल्य	...	२२ रुपये

समस्त सत्यविद्याओं का दिग्दर्शक वेद प्राचीन और आधुनिक मनीषियों की प्रतिभा एवं शोध सम्भार का सम्बल लेकर विलष्टता और दुरुहताओं को गहन गुहा से निकल कर निरन्तर जन सामान्य तक अपना प्रकाश विकीर्ण करता रहा है। वेदों का आर्भिव काल अभी भी विवाद का विषय है। अद्भुत मनीषी श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने इसी काल-सम्बन्धी विवाद को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया है। इस शोधपूर्ण पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होगा कि भारतीय इतिहास को भूल भुलैया में वैदिक युग का कौन सा समय निर्धारित किया जाना चाहिये?

वेद अनादि काल से भारतीयों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहे हैं। भारत के इतिहास में एक ऐसा युग रहा है जब वेद की ज्योति सर्वत्र प्रस्फुटित थी, वैदिक मान्यताएं सर्वोपरि थीं। वैदिक विज्ञान का प्रदाता होने के कारण ही भारत सर्वगुरु कहलाता था। ऐसे वैदिक युग से भारतीय जनता अनभिज्ञ रहे यह एक दुःख की बात है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी लेखक ने प्रस्तुत शोध पूर्ण ग्रंथ का निर्माण किया।

इस ग्रंथ के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक समूचे ग्रंथ में निष्पक्ष रहा है। पाश्चात्य विचारकों के मत को लेखक ने ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। पाश्चात्य ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहासकार तथा वेदज्ञ वेदों का जो अविर्भाव काल निर्धारित करते हैं उसको यथातथ्य रूप से उल्लिखित किया है। इन मतों में कौन-सा मत विश्वसनीय है और समीचीन है इसका निर्णय लेखक ने पाठकों पर छोड़ दिया है।

इस ग्रन्थ की एक और विशेषता पाठकों को देखने को मिलेगी कि वैदिक साहित्य का विकास कब और किन परिस्थितियों में हुआ ? उसका विस्तृत लेखा जोखा प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलेगा। इस परम्परा में लेखक ने पुराणों के उद्धरणों से भी सहायता ली है। प्रायः प्राचीन आर्य विचार धारा के लोग पुराणों को कल्पित कहकर उपेक्षित कर देते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक का व्यक्तित्व विशाल और परिष्कृत परिलक्षित होता है कि उसने पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठकों के लिये मैं एक और विशेषता इस ग्रन्थ की बता दूं जो प्रायः अन्य ग्रन्थों में नहीं पायी जाती, वह यह है कि इसमें वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल उद्धरण भी पढ़ने को मिलेंगे। पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय ऐतिहासकों की यह त्रुटि है कि वे वेद का काल निर्णय तो करते हैं किन्तु वेद से अनभिज्ञ होते हैं। उन्होंने जो इधर उधर से हिन्दी पुस्तकों तथा अंग्रेजी पुस्तकों से प्राप्त किया होता है उसी के आधार पर वेद के काल के विषय में अपनी मति बनाते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार वेद के मर्मज्ञ पारखी हैं। उन्होंने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया है अतः इस कारण इस ग्रन्थ में वैदिक मूल उद्धरण यथास्थान देखने को मिलेंगे जिससे पाठक लेखक के सिद्धान्त को वेद की कसौटी पर कस कर स्वयं देख सकता है।

इस ग्रन्थ में तेरह अध्याय हैं जिनमें वैदिक युग की परिस्थियों को व्यवस्थित रूप में वर्णित किया गया है। राजनीतिक स्थिति, सामाजिक जीवन, आर्थिक व्यवसाय और व्यापार का वर्णन, शासन व्यवस्था, धार्मिक जीवन के अन्तर्गत चिन्तन की धारा सभी कुछ वैदिक सामग्री इस ग्रन्थ में पाठक पढ़ सकेंगे। शोध-छात्रों तथा वेद के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ महान् उपादेय और अनुशीलनीय है।

— 0 —

त्वं न सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥
ऋ० 1–97–8 ॥

अर्थ :—हे सोम ! हे राजन् ! तू हमें पाप चाहते वालों से चारों ओर से रक्षा कर। तुझ जैसे से मित्रता रखने वाला कभी नष्ट नहीं होता।

प्रगतिवाद

ले० : शिरोमणि भट्ट – छात्र

एम०ए० (हिंदी) द्वितीय वर्ष

आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद रचनाओं से तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें शोषक और शोषित के वर्ग-संघर्ष का भैरव राग गूंजता है। सर्वहारा वर्ग की हिमायत में जो कवितायें क्रान्ति का सन्देश देती हैं और जिनमें प्रोलेतेरियत, जालिम एवं मजलूम के जीवन की विषम समस्याओं की जद्दोजहद प्रकट होती है आज उन्हीं रचनाओं को प्रगतिवादी रचनायें कहा जाता है। प्राचीन सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक परम्पराओं को ध्वस्त करना, आदर्श मर्यादाओं को तोड़ना, रोटी-कपड़े की मांग को ही जीवन की परम सिद्धि मानना, काव्य रीतियों का उल्लंघन करना तथा सर्वथा श्लीलता-अश्लीलता के विचारों को भूलकर जीवन की नग्नावस्था का चित्रण करना ही, कुछ प्रगतिवादी कवियों का कर्तव्य और उनकी कविताओं का लक्ष्य बन चुका है।

प्रगतिवादी काव्य का उद्देश्य केवल भौतिकमानों को जैसे-तैसे बढ़ावा देना मात्र है। प्रगतिवादी कवि के लिए सामंतवाद और पूंजीवाद के बीच का जनद्वन्द्व प्रकट करना ही उसके अनुसार काव्य का प्रमुख कार्य है। उसके लिए जीवन की भौतिक समस्याओं की पूर्ति पहले है। ज्ञात होता है कि काव्य की सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक-सृष्टि से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य भारत में कब से और किस प्रकार उदित हुआ इस पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना भी परमावश्यक है कि उपरिलिखित आज की आधुनिक प्रगतिवादी कहलाई जाने वाली काव्य-रचनाओं की विशेषताओं से परे, हमारे यहां साहित्य की प्रगतिशीलता बराबर चलती रही है।

आज के संकुचित अर्थ से मुक्त, प्रगति का ठीक-ठीक अर्थ उस विकासशील साहित्य से है, जो निरन्तर जन-कल्याण के लिए लिखा जाय या लिखा जाता रहा है। यह प्रयास भी एक प्रगतिवादी संघर्ष ही है। इस दृष्टि से मानव-इतिहास के सभी प्रकार के संघर्ष, चाहे वे राजनैतिक हों, आध्यात्मिक हों सभी प्रगतिवाद की लहर के साथ-साथ प्रवाहित मिलेंगे। प्रगतिवाद का वास्तविक अर्थ है व्यापक रूप से किसी

मनोवांछित इच्छा-आकांक्षा की पूर्ति के लिए विशेष गति से आगे बढ़ना और बढ़ने में निरन्तर एक संघर्ष चलता ही जायेगा हम हर देश और काल के साहित्य में इसे किसी न किसी प्रकार अवश्य पाएंगे ही। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि साहित्य के अन्तर्गत प्रगतिवाद का ठीक अर्थ है कि विषम परिस्थितियों के साथ मानव को संघर्ष करने का बल और प्रोत्साहन मिले। नवीन विकास के लिए वह जीवन की नई दिशा, नई व्यवस्था और नये मार्गों को ढूंढ सके और पा भी सके।

हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों के इतिहास के पढ़कर हम उसमें इस प्रगतिशीलता एवं तत्सम्बन्धी अन्य बातों को पूरा समावेश हुआ पा सकते हैं। चारण-काल में यदि चारणों ने अपनी वीररस प्रधान रचना लिखी तो इसलिए कि उनसे सम्बन्धित राजा का समस्त बिखरे हुए साम्राज्य पर एकछत्र शासन स्थापित हो जाए। भक्तिकाल में यदि भक्ति-भाव-सम्बन्धी रचनायें लिखी गई तो इसलिए कि तत्कालीन लोक-निराश हिन्दू-धर्म-प्राण-जनता को भगवान की कृपा का दृढ़ अवलम्ब मिल जाए।

आज प्रगतिशील कहे जाने वाले साहित्य के अर्थ तथा साहित्य के मुक्त प्रगतिशील अर्थ में एक मौलिक अन्तर यही मालूम होता है कि पहले में मानव-जीवन की संकुचित चहारदीवारी का मर्सिया है और दूसरे में जन-समाज की आवश्यकता के अनुसार मानवीय-चित्तवृत्तियों की ओर उनकी इच्छा-आकांकाक्षों की पूर्ति पाने वाली स्वतंत्र भावनाओं की प्रतिध्वनि। अतः कह सकते हैं, पहला प्रगतिशील कहा जाने वाला साहित्य जीवन के बाहरी पहलू तक ही सीमित है। संक्षेप में सही अर्थों में प्रगतिशील कहलाया जाने योग्य साहित्य वही है, जो जीवनचेतना में सर्वांगीण विकास करने का संघर्ष-भाव जगाता और तदनुकूल कायाकल्प भी करता चले।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद का उदय छायावादी-रहस्यवादी काव्य लोक-पलायनवादी दर्शन की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है। यों राष्ट्रीय जन-जागरण की काव्यात्मक चेतना का स्फुरण तो बहुत पहले "भारतेन्दु", "गुप्त" तथा "हरिऔध" आदि कवियों की रचनाओं मे हम पा लेते हैं। फलस्वरूप सन् 1934 में ही, गुप्त रूप से, यहां पर भी "भारतीय कम्युनिस्टपार्टी" की पूंजीवादी शासन से द्वन्द्व करने का कार्यक्रम बनना आरम्भ हो गया।

सन् 1936 में मु० प्रेमचन्द के सभापतित्व में खुलेआम "भारतीय प्रगतिशील साहित्य-संघ" की स्थापना हुई, जिसमें साहित्य लिखने का मुख्य उद्देश्य शोषक और शोषित के संघर्ष को जनता में प्रसारित करना था और भारत में भी इसका व्यापक प्रचार होने लगा। सन् 1938 से लेकर 1941 तक की आधुनिक काव्य रचनायें

(यद्यपि उससे भी कुछ पहले प्रेमचन्द के 'गोदान' उपन्यास से ही) प्राय: कॉर्लमार्क्स, एंजिल्स आदि के रोटी-कपड़ा सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन के आधार पर ही लिखी जाती रही। साहित्य की यह सम्पूर्ण अवधि ही इस प्रकार की अधिकांश काव्य-रचनाओं से पूर्ण है। जिन प्रगतिवादी कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं वे इस प्रकार हैं :—

1. निराला 2. पन्त 3. बालकृष्णशर्मा 'नवीन' 4. भगवतीचरण वर्मा 5. उदयशंकर भट्ट 6. रामधारी सिंह 'दिनकर' 7. शिवमंगल सिंह 'सुमन' 8. मिलिन्द 9. नरेन्द्र शर्मा 10. अंचल।

महाप्राण 'निराला' ने अपनी 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' तथा 'अर्चना' आदि काव्य-कृतियों में वस्तुवादी वर्ग-संघर्ष-प्रधान उग्र रचनायें लिखी हैं। 'वह तोड़ती पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर, "भिखारी के प्रति" जैसी रचनाओं में वर्गवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र क्रान्ति एवं असन्तोष की भावना प्रकट हुई मिलती है। "पन्त जी" की प्रगतिशील रचनाओं में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन और गांधी की सांस्कृतिक चेतना इन दोनों का ही समन्वय देखने को मिलता है। पन्त का प्रगतिवाद जीवन का अतिशय वस्तुपरक और कहीं नग्न रूप को प्रकट करता है। धोबी का नृत्य आदि कवितायें इस बात की साक्षी हैं, यथा—

वह कामशिखा सी रहीं सिहर,
नट की कटि में लाल सा भंवर,
कँप कँप नितम्ब उसके थर थर,
भर रहे घाटियों में रति स्वर।

परन्तु आगे बढ़कर "पन्त" के प्रगतिवाद में भारतीय संस्कृति के संस्कार दृढ़ होते गए।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की प्रगतिशील रचनाओं में सामाजिक मान मर्यादाओं एवं व्यवस्थाओं के प्रति मात्रा से अधिक असन्तोष प्रकट हुआ, यथा :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आये,
नियम और उपनियमों के ये,
बन्धन टूक टूक हो जायें।

भगवतीचरण वर्मा की प्रगतिवादी रचनाओं में निम्नवर्गीय मानवों के प्रति हिमायत की तीव्र वाणी मुखरित होती है—"चली आ रही भैंसा-गाड़ी चूं चरर मरर चूं चरर मरर" कविता में यह बात स्पष्ट रूप से समझने को मिलती है।

उदयशंकर भट्ट की प्रगतिशील रचनाओं में निम्नवर्गीय समाज का विद्रोह बड़े उग्र रूप से प्रकट हुआ। इन रचनाओं में पुरानी व्यवस्था के निर्माण के विश्वास का चैलेंज प्रकट होता है, यथा—

सिंचित मलयानिल से जिसने कलि के अधरों को खोला था,
रजनी के उन्मुख हृदय से जीवन जहां फूट बोला था।

रामधारी सिंह "दिनकर" की प्रगतिशील रचनाओं में व्यक्ति और समाज, सभ्यता और संस्कृति तथा ऊंच और नीच—इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व प्रकट होता है। कवि की "कुरुक्षेत्र" कृति द्वन्द्व और जनहित कल्याणपक्ष का वातावरण प्रस्तुत करती है, यथा—

आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी,
आज चमेली में न चन्द्र किरणों के चित्र बनाऊंगी।

वस्तुतः 'दिनकर" जी की प्रगतिशील रचनाएं सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कही जाने योग्य हैं।

शिवमंगल सिंह 'सुमन', मिलिन्द, नरेन्द्र शर्मा, अंचल तथा देवराज दिनेश ने भी अच्छी प्रगतिशील रचनायें लिखी हैं। उक्त कवियों की भाषा और भाव का नवीन प्रयोग देखने को मिलता है। प्रगतिशील कविताओं में चेतना को उभारने की अभिव्यंजना प्रकट होती है।

आधुनिक काव्य में प्रगतिवाद आज की जन-मन-चेतना के बिल्कुल उपयुक्त नहीं। इस प्रकार के प्रगतिशील कवियों के लिए काव्य-सृजन करना ही उनका सबसे बड़ा मानवीय धर्म है। उसे तो राष्ट्र-रचना का विशाल प्रयोग बनना होगा। आज भारतीय जनता स्वयं ही अपनी भाग्य-विधाता बन गई है। प्रगतिवादी कवि निर्माण की समतल भूमि पर उन्नति की नई फसल के लिए कुदाल और फावड़े के प्रयोग को शस्य-श्यामला-वसुन्धरा के ऊपर हरियाली के रूप में लहरा दें। इसके विषय में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता उदाहरणार्थ दी गई है, यथा—

कहां गये हल बैल तुम्हारे, ट्रैक्टर औ बुल डोज़र।
तोड़ो खेतों की मेड़ों को जोतो अपनी अम्बर॥
गुरुथल जोतो ऊसर जोतो, जोतो बन्जर धरती।
सोने चांदी की फसलों से भर दो सारी धरती॥

वस्तुतः आज की सच्ची प्रगतिशील कविता का रूप इसी प्रकार निखरता जाय इसी में श्रेय है।

—0—

हतो राजा क्रमीणामुतैषां स्थपति र्हतः।
हतो हतमाता क्रमि र्हतभ्राता हतस्वसा॥

अथर्व 1-324॥

अर्थ :— मनुष्य अपने दोषों एवं उनके कारणों को उचित ढंग से समझ कर उन्हें नष्ट कर दे, जैसे एक अच्छा वैद्य शारीरिक दोषों के प्रमुख गौण कारणों को समझकर रोगी के रोग को दूर करता है।

समस्याओं का देश-भारत

ले०—नामदेव दुधाटे

एम०ए० प्रवक्ता, दर्शन विभाग

सभ्यता के वर्तमान युग में भारत में आज अनेक समस्यायें सुरसा की तरह मुंह फैलाये हुए हमें भयाक्रान्त कर रही हैं। अनेक समस्यायों में से बेरोजगारी या बेकारी जैसी अनेक समस्याएं बहुत जटिल बन गई हैं। ऐसी समस्याओं ने समाज में हंगामा मचा दिया है।

1. बेरोजगारी

बेरोजगार या बेकार दो प्रकार के हैं— 1. अशिक्षित तथा 2. सुशिक्षित सुशिक्षित बेरोजगार की समस्या अशिक्षित बेरोजगार की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। 'बेरोजगारी' शब्द का अर्थ है 'जबरन रोजगार रहित स्थिति' जोकि शिक्षित नवयुवकों पर थोप दी जाती है। अशिक्षित लोगो में बेरोजगारी मशीनों की देन है। बहुत से मजदूरों को काम नही मिलता।

भारत कृषि प्रधान देश है। पचहत्तर प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर निर्भर करते हैं। किसान एक वर्ष में छः महीने खेत में काम करते हैं और शेष छः महीने वे गप्पों में बिताते हैं। किसान छः महीने खाली रहते हैं। छः महीने में कमाया हुआ धन खाली छः महीने में वे समाप्त करते हैं। इस कारण वे निर्धन हो जाते हैं। वे समय और शक्ति खो देते हैं और आलसी वन जाते हैं। किसान और मजदूर अपना खाली समय कुटीर उद्योग-धन्धों में नहीं लगाते। वे छोटी-छोटी वस्तुएं बना सकते हैं और जीविका के लिए धन कमा सकते हैं परन्तु वे ऐसा नहीं कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण है अशिक्षा।

बहुत से शिक्षित लोग भी एम०ए० और बी०ए० डिग्री प्राप्त करके नौकरी की तलाश में भटकते हैं। इन्टर और हाईस्कूल करने वालों की तो गिनती ही नहीं है। दूषित शिक्षा प्रणाली ने शिक्षितों में बेरोजगारी उत्पन्न की है। यहां केवल सैद्धान्तिक शिक्षा मिलती है। व्यवहारिक शिक्षा शून्य है। जो विद्यार्थी डिग्री लेते हैं काम के

योग्य नहीं हैं। उनको और ट्रैनिंग लेनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त शिक्षित युवक शारीरिक कार्य करने से घबराते हैं। वे कुर्सी पर बैठना चाहते हैं अर्थात वे ऊंचा पद चाहते हैं। वे छोटे कामों से घृणा करते हैं।

बेरोजगारी दण्डित अपराध जैसे चोरी, डकैती, हड़तालें, खूनी क्रान्तियां, युद्ध, रिश्वत, भ्रष्टाचार, आन्दोलन, अनुशासनहीनता आदि उत्पन्न करती है।

२. भिक्षुक समस्या :

भारत में भिखारियों की समस्या भी गम्भीर है। अगर आप किसी रेलवे स्टेशन के पास हरिद्वार तथा ऋषिकेश जैसे पवित्र स्थानों में हरिकी पौड़ी या लक्ष्मण-झूला आदि गंगा जी के किनारे पहुंच जायं तो अपने आपको भिखारियों में घिरा हुआ पाएंगे। जब तक आप उन्हें कुछ न देंगे तब तक वे आपका पीछा नहीं छोड़ेंगे। ये भिखारी आज भारत के सामने एक बड़ी समस्या बने हुए हैं। भारत में भिखारियों की अधिक संख्या होने के कारण ही विदेशी लोग भारत को भिखारियों का देश या गरीब देश कहते हैं।

विभिन्न प्रकार के भिखारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते दिखाई देते हैं। इनमें कुछ बिना घर वाले, कुछ लंगड़े और अपाहिज होते हैं और कुछ काफ़ी हट्टे-कट्टे होते हैं। छोटी आयु के बच्चे भी भीख मांगते हुए दिखाई देते हैं। कुछ ऐसे भी भिखारी होते हैं जो रंगे हुए कपड़े पहनते हैं और एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर जाते रहते हैं। यह भी देखा जाता है कि बहुत से बदमाश जनता को यह कहकर ठगते हैं कि वे भविष्य जानते हैं या सोने को दूना कर सकते हैं। स्त्रियों और लालची पुरुष इनके शिकार बन जाते हैं। ऐसे आदमी देश के लिए कलंक हैं।

३. मूल्य वृद्धि

सारे संसार में मूल्यवृद्धि की समस्या है। समाचार-पत्र जनता की शिकायतों से भरे हुए रहते हैं। हर देश में आर्थिक संकट है, परन्तु भारत में यह समस्या सब से अधिक है।

भारत अविकसित देश है, अत। आज एकता की मांगें पूरी करने के लिए पर्याप्त उपज नहीं है। इस कारण प्रत्येक वस्तु का आभाव है, अतः मूल्य वृद्धि की समस्या भारत में सबसे अधिक है।

मूल्य वृद्धि के अनेक कारण हैं। अत्यधिक जनसंख्या, कम उपज, कन्ट्रोल और

राशन, सामाजिक रीति-रिवाज, अधिक मुद्रा, शिल्पादि कलाओं की कमी, हड़तालें और प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़ सूखा और अकालादि इसके कुछ कारण हैं। भारत इतना उत्पादन नहीं करता जितना कि आवश्यक है। आयातित वस्तुएं मंहगी होती हैं। भारत की उपज विदेशों की अपेक्षा कम है।

विशेष रूप से भारत में व्यापारियों ने मूल्य वृद्धि समस्या को अधिक गम्भीर बना दिया है। वे वस्तुओं को जमा कर लेते हैं और काले बाज़ार में ऊंचे दामों पर बेचते हैं। इसके अतिरिक्त काले धन का प्रचलन बहुत बड़ी मात्रा में है। जमाखोरी, तस्करी व काला-बाज़ारी ने मूल्य वृद्धि को अधिक बल प्रदान किया है। भारत में कहीं न कहीं नित्य फैक्टरियों में हड़तालें होती हैं जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है और कम उत्पादन के कारण कीमतें बढ़ती रहती हैं।

४. जनसंख्या

भारत में जनसंख्या की समस्या अधिक विशाल है। किसी अर्थशास्त्री ने कहा है कि "भारत एक धनवान देश है जिसमें निर्धन लोग निवास करते हैं।" इसका प्रमुख कारण भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या है। चीन के बाद भारत विश्व में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। भारत की जनसंख्या 80 करोड़ तक पहुंच गई है। दस वर्ष के अन्दर बीस करोड़ की वृद्धि हुई है। माल्थस के अनुसार 25 वर्ष के अन्दर जनसंख्या दुगनी हो जाती है और खाद्यान्न के साधन ठीक आधे रह जाते हैं।

बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण हम अनेक परेशानियां उठा रहे हैं। खाद्यन्न की बहुत कमी है। आवास-समस्या गम्भीर है। जीवन-स्तर नीचे जा रहा है। स्वास्थ्य गिर गया है। बीमारियां बढ़ गई हैं। अधिकांश व्यक्ति भोजन और वस्त्र-रहित रहते हैं। निर्धनता व्याप्त हो जाती है। अन्य आवश्यक वस्तुयें उचित कीमतों पर सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। हमारे बच्चे भूखे रहते हैं। वे अशिक्षित और पिछड़े हुए रह जाते हैं। हजारों व्यक्ति फुटपाथ पर बेआराम की नींद गुजारते हैं। बेरोजगार या बेकारी की समस्या बढ़ जाती है।

५. अनुशासनहीनता

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता दुर्भाग्यवश भारत में समाज का एक सामान्य विषय बन गई है। ज्योंही एक बच्चा किशोरवस्था में प्रवेश करता है वह अपने माता-पिता, अध्यापकों और अन्त में सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह करने लगता है। जहां कहीं विद्यार्थियों की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य होता है वे हड़ताल कर देते हैं। वे कक्षा तथा परीक्षा भवन में अपने अध्यापकों तथा घर में अपने माता-पिता आदि का

अपमान करते हैं। वे सिनेमा, सर्कस तथा रेल यात्रा बिना टिकट देखना या सफर करना चाहते हैं। ये सब इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारतीय विद्यार्थी अनुशासन-हीनता के मार्ग पर हैं।

अनुशासनहीनता का मुख्य कारण गन्दी राजनीति है हमारे नेता और राजनीतिक दल उन्हें विध्वंसात्मक मार्ग पर केबल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उकसाते हैं। वही तरीके वे अपने माता-पिता और अध्यापकों के लिए अपनाते हैं। उन्हें सदैव भटकाया जाता है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का दूसरा कारण डिग्री लेने के बाद भी उचित रोजगार न मिलने के कारण निराशा है। उद्देश्यहीन शिक्षा उन्हें बहुत परेशान और दुखी बनाती है। इस कारण वे असभ्य और अनुशासनहीनता-पूर्ण व्यवहार करते हैं।

स्कूल-कालेजों में छात्रसंघ जैसे विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्पन्न करने के साधन हैं। ये संघ विद्यार्थियों के चरित्र और अच्छे स्वभाव का रचनात्मक कार्य कठिनाई से ही कर पाते हैं। वे अध्यापक वर्ग पर भी हावी रहते हैं।

अनैतिक और हिंसात्मक चलचित्र भी भारतीय विद्यार्थियों को बरबाद कर रहे हैं। जैसा वे पर्दे पर देखते हैं वैसा ही वे अपनी कक्षा, घर और समाज में करते हैं। यह समस्या इतनी तीव्र है कि इसका कोई समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता। भारत के विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता विष के समान है जिसका शीघ्र ही समाधान होना चाहिए ताकि देश में खुशहाली उत्पन्न हो सके।

६. दहेज समस्या :

दहेज समस्या या दहेज प्रथा भारतीय समाज के लिए विशेषतया निर्धनों के लिये एक बड़ा अभिशाप और चुनौती है। दहेज एक हस्तान्तरित सम्पत्ति है जो कि विवाह के अवसर पर नगद या सामान के रूप में सीमारहित दी जाती है। दहेज-प्रथा एक कीड़ा है जिसने भारतीय समाज की जड़ को खोखला कर रखा है। वास्तव में विवाह एक धार्मिक पवित्रता है जिसमें दो आत्मायें सदा सदा के लिये सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के लिये सम्पूर्ण जीवन के लिये मिलती हैं परन्तु दहेज वैवाहिक जीवन की खुशियों को मार देता है। हजारों सुन्दर और निर्दोष लड़कियां दहेज की वेदी पर बलि हो जाती हैं। भारत में आज दहेज समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है। दहेज रूपी रावण लड़कियों रूपी हजारों सीताओं को अपने मोहब्बत-प्यार रूपी राम के सच्चे प्रेम को प्राप्त करने से वंचित रखता और रुलाता है।

दहेज के अनेक कारण हैं जैसे, प्राचीन परम्परा, बुरी सामाजिक प्रथायें, जातिवाद, बेमेल विवाह, मिथ्याभिमान, धन के लिए लालच, बुरी आर्थिक दशा, सामाजिक स्थिति में भेदभाव तथा लड़की का वर्ण आदि। आज दहेज के दाम विभिन्न स्थिति के लड़कों के लिए पृथक-पृथक हैं, जैसे डाक्टरों, इंजीनियर, शिक्षकों, बैंक, जीवन बीमा तथा राज-सरकार में काम करने वाले लिपिकों आदि के लिये। लड़की की योग्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अत्याधिक नगद और सामान के रूप में दहेज तथा लड़की की सुन्दरता की आवश्यकता रहती है।

वेतनभोगी माता-पिता अपनी योग्य और सुन्दर कन्याओं के लिए भी उचित वर नहीं कर पाते।

नित्य ही समाचार पत्र निर्धन निर्दोष लड़कियों की उनके ससुराल वालों द्वारा हत्याओं की सूचना लाते हैं, क्योंकि उन्हें उनकी इच्छानुसार दहेज नहीं मिला था। कभी-कभी लड़कियां ससुराल में फटकार और मार निरन्तर पाने के कारण भी आत्म-हत्या कर लेती हैं। दहेज की प्रमुख बुराइयां, हत्याएं, आत्म-हत्याएं, पारिवारिक संघर्ष मानसिक तनाव निम्न जीवनस्तर, निर्धनता लड़का-लड़की के माता-पिता के बीच में तनाव की स्थिति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, रिश्वत, चोरबाजारी, आदि-आदि दहेज के दुष्परिणाम हैं। यह भारतीय समाज के मस्तक पर बहुत बड़ा कलंक है।

सम्भाव्य समाधान

उपर्युक्त 6 समस्याओं का समाधान मेरी दृष्टि में निम्नलिखित हो सकते हैं, यथा—

1. बेरोजगारी या बेकारी का एकमात्र समाधान जनसंख्या पर रोक लगाना है। विवाह देर से होने चाहिएं। व्यावहारिक शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा की पद्धति बदलनी चाहिए। शिक्षितों को यथायोग्य रोजगार मिलना चाहिए। इस प्रकार बेरोजगारी की समस्या दूर हो सकती है।

2. भीख को कैसे रोका जाये ? सबके लाभ के लिए सरकार को आगे बढ़ना चाहिए। सर्वप्रथम भीख मांगने को गैर-कानून बना देना चाहिए परन्तु भिखारियों की समस्या इतनी विकट है कि केवल कानून बनाने से भीख मांगने को नहीं रोका जा सकता।

जनता को भी सरकार की सहायता के लिये आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिये व्यक्तिगत रूप से दिया जाने वाला दान बन्द कर देना चाहिए। जिन पुरुषों को जरूरत हो और जो भिखारी कार्य करने के इच्छुक हों उन्हें रोजगार दे देना चाहिए। इस प्रकार भिखारियों की समस्या हल हो सकती है।

3. मूल्यवृद्धि रोकने के लिये सरकार को उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करने चाहिए। उत्पादन वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके बढ़ाना चाहिये। किसानों को वैज्ञानिक खेती, सहयोगी खेती, चकबन्दी और सिंचाई की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए, जिससे उत्पादन बढ़े। हड़तालों को गैर-कानूनी घोषित करना चाहिए तथा प्राविधिक वैज्ञानिक ट्रेनिंग औद्योगिक कार्यकर्ताओं को दी जानी चाहिये ताकि वे अधिक उत्पादन बढ़ा सकें और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य गिर सकें।

4. जनसंख्या पर नियन्त्रण रखने और परिवारों को सीमित रखने के लिये प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक अनेक तरीके हैं। देरी से विवाह करना चाहिये। वैवाहिक जीवन में आत्मसंयम का सुझाव देना चाहिये इत्यादि। जनसंख्या नियन्त्रण के प्राकृतिक तरीके हैं। आपरेशन, औषधियों और अन्य वैज्ञानिक तरीके इस दिशा में लोगों के लिये सहायक हो सकते हैं। जैसे—'लूप', 'गर्भविरोधी' (निरोध) आदि वस्तुएं भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होती हैं। नसबन्दी करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिये। जहां परिवार नियोजन केन्द्र नहीं हैं वहां सरकार को परिवार नियोजन केन्द्र खोलने चाहिए। परिवार नियोजन के लिए कोई भी दबाव या ज़ोर-ज़बरदस्ती का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हिन्दुओं के साथ-साथ मुस्लिम तथा इसाईयों का भी परिवार नियोजन होना चाहिए। इस प्रकार जनसंख्या पर रोक लगाई जा सकती है।

५. विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता को रोकने के उपाय

1. विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रखना चाहिये।
2. स्कूल और कालिज शहर के वातावरण से दूर होने चाहियें।
3. छात्र संघ समाप्त किये जाने चाहिए।
4. विद्यार्थी और शिक्षकों के पाविारिक रूप से मिलकर सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य रचनात्मक रूप में करना चाहिए।
5. विद्यार्थियों की स्वेच्छा से पढ़ने के विषय छांटने चाहिए।

6. विद्यार्थियों के शैक्षिक जीवन के बाद उन्हें उचित रोजगार का आवासन मिलना चाहिए।
7. केवल गुरुकुल और ऋषिकुल प्रणाली के प्राचीन वातावरण का अनुसरण करके ही इस महान् समस्या का समाधान हो सकता है।

6. सरकार को कानून द्वारा दहेज प्रथा पर रोक लगानी चाहिए और उसको प्रोत्साहन देने वालों को कड़ी सजा देनी चाहिए। विवाह के पांच वर्ष के अन्दर किसी स्त्री की मृत्यु पर गुप्त सरकारी छानबीन की जानी चाहिए। तभी दहेज प्रथा बन्द हो सकती है।

भारत में ऐसी ही और समस्याएं हैं, जैसे—भाषा समस्या, विश्वशान्ति समस्या, काश्मीर समस्या, छूआछूत, पंजाब समस्या, शिक्षा समस्या, विवाह समस्या आदि-आदि समस्याएं भारत के सामने मुंह फैलाकर खड़ी हैं। ये सब समाधान की अपेक्षा रखती हैं।

—0—

त्वं राजेन्द्र ये च देवा
रक्षा नृ न्पाह्यसुर त्वमस्मान्
त्वं सत्पति र्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं
सत्यो वसवानः सहोदाः ॥
ऋ० 1–23-174–1

अर्थ :— हे परमैश्वर्यशाली आप वेद व सज्जनों के पालन कर्त्ता, परम प्रशंसित धनवान् हम लोगों को दुखःरूपी समुद्र से उतारने वाले हैं। आप सज्जनों में उत्तम, धन प्राप्ति कराने तथा बल देने वाले हैं। आप न्याय एवं विनय से युक्त हैं। अतएव मेघ सदृश आप हम मनुष्यों का पालन करें। साथ श्रेष्ठ गुण वाले धर्मात्मा विद्वानों की रक्षा करो।

सारांश यह है कि राजा अथवा अधिकारी सत्यनिष्ठ, धर्मात्मा सत्पुरुष एवं विद्वान लोगों को अपने निकट सम्पर्क में रखकर प्रजा पालन करे।

हिन्दी-गद्यकाव्य : उद्भव और विकास

ले०—पवन कुमार - छात्र,
एम०ए० । हिंदी । द्वितीय वर्ष ।

हिंदी-गद्यकाव्य का उद्भव और विकास देखने से पूर्व हमारे लिए यह देख लेना आवश्यक है कि गद्य-काव्य हिंदी की अपनी मौलिक विद्या है या किसी का अनुसरण। हमारे हिंदी लेखकों में आत्महीन की यह भावना है कि हिंदी अपनी मौलिक विद्या नहीं है। वे हिंदी को प्राचीन संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि तथा बंगला और अंग्रेजी-साहित्य की विद्या का रूप मानते हैं।

हिंदी-गद्यकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भी हमारे अनेक उच्च कोटि के विद्वानों की यह धारणा रही है कि हमारी यह विद्या बंगला के प्रभावस्वरूप ही अस्तित्व में आ पाई है। बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि—कविन्द्र रविन्द्र की "गीतांजली" के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित एवं प्रचारित होने के उपरान्त ही भारतीय भाषाओं में गद्यकाव्य का लिखा जाना आरम्भ हुआ। इसी आधार पर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हिन्दी के शीर्ष आलोचकों ने घोषणा कर दी कि हिन्दी गद्यकाव्य मूल रूप में "गीतांजली" का ऋणी है।

वैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी गद्यकाव्य पर "गीतांजली" के प्रभाव को माना है साथ ही हिन्दी के प्रसिद्ध गद्यकाव्य लेखकों में से राय कृष्णदास, महाराज कुमार डाक्टर रघुवीर सिह, तेजनरायण काक आदि ने मुक्त रूप से "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार किया है परन्तु दूसरी ओर हिन्दी के अनेक आलोचकों एवं गद्य–काव्य लेखकों ने "गीतांजली के इस प्रभाव को मानने से एकदम इन्कार कर दिया है। ऐसे गद्य काव्य-लेखकों एवं आलोचकों में शिवशेखर द्विवेदी, जनार्दनराय नागर, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास तथा दिनेश नन्दिनी डालमिया आदि प्रमुख हैं।

इनमें से कुछ के मत दृष्टव्य हैं। बियोगी हरि ने लिखा है—"गद्यकाव्य लिखने की स्वयं भावस्फूर्ति हुई है। जब पहला गद्यकाव्य तरंगिणी नामक लिखा था तब रवीन्द्र की "गीतांजली" का नाम भी मैंने नहीं सुना था न बंगला से परिचय था और और न तब "गीतांजली" का हिन्दी अनुवाद ही हुआ था, जिसकी शैली कादम्बरी से

मिलती थी। "हिन्दी गद्यकाव्य की प्रसिद्ध एवं अत्यन्त लोकप्रिय लेखिका दिनेश नन्दिनी डालमिया का मत भी इस सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है, यथा-

"शबनम", 'मौक्तिक माल' आदि रचनाएं तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक पास भी नहीं किया था और मुझे हिन्दी का वैसा ज्ञान न था जैसा कि एक लेखक को होना चाहिए। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा ही यह रूप ग्रहण कर गई।" इस वर्ग के अन्य लेखकों में भी लगभग इसी प्रकार "गीतांजली" या "उद्भ्रान्तप्रेम" के प्रभाव को अस्वीकार किया है।

विद्वानों का ऐसा एक और वर्ग है जो हिन्दी गद्यकाव्य के उदभव तथा विकास में "कादम्बरी" तथा रवीन्द्र की "गीतांजली"-दोनों का ही प्रभाव स्वीकार करता है। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमधन' तथा ठाकुर जगमोहन सिंह आदि भारतेन्दुकालीन गद्य लेखकों के लेखों में हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव मानते हैं तथा इस क्षेत्र की रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता को रवीन्द्र का प्रभाव स्वीकार करते हैं। मिश्र जी तथा अवस्थी जी भी दोनों प्रभाव के समन्वित रूप को हिन्दी गद्यकाव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं।

हिन्दी-गद्यकाव्य का विवेचन करते समय अनेक विकल्प सामने आते हैं। हिन्दी-गद्यकाव्य का उद्भव "गीतांजली" के प्रभाव से मानना चाहिए या स्वतन्त्र रूप से? क्योंकि हिन्दी के गद्यकाग्य के लेखकों में से एक वर्ग तो "गीतांजली" के प्रभाव को स्वीकार करता है तथा दूसरा वर्ग इस प्रभाव को मानने से इन्कार करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि गद्यकाव्य का प्रारम्भिक रूप तीन प्रकार के प्रभावों का फल है। पहला प्रभाव बाण की "कादम्बरी" की शैली का है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमधन आदि ने "कादम्बरी" की सालंकार, सानुप्रासमया भाषा से प्रभावित होकर अपनी गद्य-रचनाओं में काव्यात्मक तत्वों का समावेश किया है। इन लोगों ने स्वतन्त्ररूप से गद्यकाव्य नहीं लिखा था। ब्रजनन्दन सहाय का "सौन्दर्योपसक" नामक उपन्यास इतिवृत्तहीनसा कथा-काव्य है, जिसमें गद्यकाव्य के अनेक गुण मिल जाते हैं। "उद्भ्रान्त प्रेम" प्रकाशन सन् 1915 में हुआ जबकि "सौन्दर्योपासक" सन् 1911 में प्रकाशित हुआ। इस समय तक "गीतांजली" का अस्तित्व भी न था। अत: उक्त लेखकों ने बंगला के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया हैं।

दूसरी ओर राय कृष्णदास, महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह, तेजनारायण

काक आदि का गद्यकाव्य है जिस पर "गीतांजली" का गहरा प्रभाव है और इस प्रभाव को इन लोगों ने स्वीकार किया है। राय कृष्णदास का "साधना" नामक गद्य काव्य-संग्रह हिन्दी गद्यकाव्य का प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। परवर्ती अनेक गद्य-काव्य के लेखकों ने "साधना" की शैली को अपनाया है। अतः इस वर्ग के लेखकों पर भी बंगला का प्रभाव है।

गद्य लेखकों का तीसरा वर्ग वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि का है जिन्होंने किसी भी बाह्य प्रभाव को स्वीकार न कर अपनी उद्वेलित भावनाओं को ही अपने गद्यकाव्य की जननी बताया है। इनमें से नवीन लेखकों पर तो "साधना" का प्रभाव माना जा सकता है परन्तु वियोगी हरि, शास्त्री जी एवं वर्मा जी पर इसका प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि "साधना" का प्रकाशन 1916 में हुआ था, वियोगी हरि की "तरंगिणी" 1919 में तथा शास्त्री का "अन्तःस्थल" 1921 में प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर लेखकों के एक वर्ग ने स्वतन्त्र रूप से इसी परम्परा को आगे बढ़ाया था जिनमें दिनेश नन्दिनी का नाम महत्वपूर्ण है। वैसे स्वतन्त्र रूप से हिन्दी-गद्यकाव्य का आरम्भ राय कृष्णदास की "साधना" से ही माना जाता है।

परन्तु हम इस विवेचन में उन साहित्यिक महर्षि का नाम भूल जाते हैं जो वास्तव में हिन्दी-गद्यकाव्य के जन्मदाता थे, और वे थे "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।" हिन्दी-गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्वप्रथम भारतेन्दु की रचनाओं में होते हैं।

"चन्द्रावली" भावात्मक गद्य का एक अनुपम उदाहरण मानी जाती है। भारतेन्दु के इस भावात्मक गद्य का अनुकरण उसके समकालीन एवं परवर्ती अनेक लेखकों ने किया था। भारतेन्दु का यह भावात्मक गद्य उनके नाटकों, निबन्धों तथा विभिन्न ग्रंथों के समर्पणों आदि में बिखरा पड़ा है। उनके इस भावात्मक गद्य का उदाहरण द्रष्टव्य है। — "नाथ,

एक यह नया कौतुक देखो ! तुम्हारे सत्य पर ! चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें ? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है, बस इतना ही सही। लो, सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है—अंगीकार करो। छल मत समझना, सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के उद्भव में भारतेन्दु के इस योगदान का महत्व डाक्टर कमलेश की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है—"हिन्दी गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में चाहे वे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियां, कवित्व का समावेश किया था, उसीने गद्यकाव्य को जन्म दिया और उन्हीं के मण्डल द्वारा सुसज्जित हो कर उस रूप में आया जिसे सर्वश्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया।"

हिन्दी-गद्यकाव्य के विकास में "उद्भ्रान्त प्रेम" का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहा है। इसमें हिन्दी-गद्यकाव्य को "कादम्बरी" की क्लिष्ट एवं बोझिल शैली से बचाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। "गीतांजली" ने रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का समावेश किया।

भारतेन्दु को हिन्दी-गद्यकाव्य का प्रथम लेखक माना जाता है; यद्यपि उनसे भी पहले लल्लू जी लाल के "प्रेमसागर" में इसके बीज मिल जाते हैं। भारतेन्दु के उपरान्त गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमधन, ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं में गद्यकाव्य शैली के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण जैसे विचारप्रधान गद्य-लेखकों की रचनाओं में भी यत्र तत्र आलंकारित शैली की गद्य-रचना मिल जाती है।

सन् 1915 से लेकर 1930 तक हिन्दी-गद्यकाव्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। इसी वर्ष रायकृष्णदास की "साधना" प्रकाशित हुई थी जिसने साहित्य की इस विधा को एक नये मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था। इस ग्रन्थ में "रहस्यवादी लाक्षणिक अभिव्यक्ति एवं शैलीगत सारल्य" के सर्वप्रथम दर्शन हुये।

सन् 1925 से लेकर 1930 तक हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य-संग्रहों का प्रकाशन हुआ जिनमें भक्ति सेवा-प्रेम राष्ट्रीयता आदि भावनाओं को प्रमुख स्थान मिला तथा शैलीयां पूर्ववर्ती ही अपनाई गयीं। इनमें वियोगी हरि का "अन्तर्नाद" हृदयनाथ पाण्डेय के "मनोव्यथा", "मदोन्मत्त", "देवदूत" विद्यार्थी का "कुमार हृदय का उच्छ्वास"; 1928 में वृन्दावनलाल वर्मा की "प्रेम की हिलोर" तथा जगदीश चन्द झा की "तरंगिणी" प्रकाश में आई। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ गद्यकाव्य प्रकाशित हुये परन्तु अब यह विधा धीरे-धीरे समाप्त सी हो रही है।

—0—

भारतीय लोकगीतों की परम्परा

ले० – ज्ञानचन्द शास्त्री

एम० ए०, प्रवक्ता—हिंदी-विभाग ।

संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्भव माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म का कोई काल-क्रम नहीं है, परन्तु ये मौलिक परम्परा से अलग प्रवाह के रूप में अनवरत असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्गम स्रोत की ओर संकेत करते हैं। लोकगीतों की अनन्त प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है—"जब से पृथ्वी पर मनुष्य है, तब से गीत भी हैं। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए ही मुक्त हो गये, कितने ही गीतों ने देशकाल के अनुसार भाषा का बाना ही बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। ये थोड़े फेर-फार के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।"

लोकगीतों की विकास-परम्परा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है। लोक गीतों का प्रथम पग-चिह्न वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि उत्सवों पर सरस गीत गाए जाने का उल्लेख उनमें मिलता है। इन गीतों के लिए वेद में "गाथा" शब्द का प्रयुक्त हुआ है तथा गीत गाने वाले के अर्थ में "गाथिन" शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] विवाहादि अवसरों पर गाए जाने वाले गीत "रैमी" "गाथा" नामों से अभिहित किये जाते थे परन्तु "गाथा" शब्द विशिष्ट अर्थ का सूचक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गाथाओं का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋक् और गाथा का अन्तर दिया है जो इस प्रकार है—ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी। गाथाओं का प्रयोग मन्त्र के रूप में नहीं किया जाता था और वे ऋक् यजु तथा साम से अलग होती थीं। प्राचीन काल में किसी राजा के उदात्त एवं महान् चरित्र को

1. पं० रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी—ग्राम गीत : पृ०-78
2. "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहर्दिकेंभिरर्किणः"—ऋग्वेद, 8/71/14

लक्षित करके जो गीत समाज में प्रचलित हो जाते थे और जन-समूह द्वारा गाये जाते थे और वे गाथा कहलाते थे।

वैदिक गाथाओं के उदाहरण शतपथ ब्राह्मण[1] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उपलब्ध होते हैं। इनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के चरित्र का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन गाथाओं को कहीं "श्लोक" कहीं "यज्ञगाथा" और कहीं केवल "गाथा" कहा गया है।[3]

एतिहासिक गाथाओं की यह परम्परा महाभारत काल में भी पूर्ण रूप से प्रचलित थी। दुष्यन्त-पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएं महाभारत काल में उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित गाथाएं श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्राप्त होती हैं। गाथाओं का गायन विशेष रूप से राजसूय यज्ञ के अवसर पर ही होता था।

इस प्रकार लोकगीतों के विकास की परम्परा में हम देखते हैं कि लोकगीत का सर्वप्रथम ऐतिहासिक रूप गाथा ही था। वैदिक काल में गाथाओं के मुख्य दो रूप लक्षित हुए—

1. ऐतिहासिक-राजसूय यज्ञादि के अवसर पर गाई जाने वाली गाथाएं।
2. देव विषयक-विभिन्न संस्कारों के अवसर पर मंगल हेतु गाई जाने वाली गाथाएं।

पाली भाषा के जातकों में उपर्युक्त धारणा की सम्पुष्टि हो जाती है। पाली भाषा में प्रयुक्त गाथाएं अत्यन्त प्राचीन हैं जिनमें तत्कालीन लौकिक कहानियों एवं घटनाओं का सार रूप में उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथाएं जो जातक कहलाती हैं गाथाओं के माध्यम से ही व्यक्त हुई हैं। पाली के प्रसिद्ध सिंहचर्य जातक हैं सिंह की खाल पहन कर खेतों में धान-जौ खाने वाले गधे की कथा है। किसान के रूप में उपस्थित बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) गधे की आवाज पहचान कर इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए प्रथम गाथा कहते हैं। यहीं पर द्वितीय गाथा गधे के स्वामी, एक बनियां के द्वारा कही गई है।[1] प्राकृत काल में "लोकगीतों" का विकास

---

1. शतपथ ब्राह्मण : कांड 13, अध्याय 1, ब्राह्मण 5
2. ऐतरेय ब्राह्मण 8/4
3. तादेशाऽभि यज्ञगाथा गीयते। तां गाथा दर्शयति। तत्र प्रथमं श्लोकमाह—ऐतरेय ब्राह्मण 39-7

परिलक्षित होता है। हाल की "गाथा सप्तशती" में संग्रहीत सात सौ गाथाएं उसका प्रमाण हैं। एक गाथा में विरहिणी नायिका की मन:स्थिति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है। जब वह प्रियतम के परदेश जाने के पश्चात् दिवस गणना के लिए आतुर होकर प्रथम दिवस के अर्द्ध भाग में ही "आज गया है" "आज गया है" सोच-सोचकर पूरी दीवार को लकीरों से भर देती है।[2]

वैदिक युग के बाद महाकाव्य एवं पौराणिक युग में भी लोकगीतों की विकास-परम्परा दिखाई देती है। बाल्मीकिरामायण में राम-जन्म के शुभ अवसर पर गन्धार्वों द्वारा गायन एवं अप्सराओं द्वारा नृत्य करने का बालकाण्ड में उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने अज के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा दलीप के राजमहल में वेश्याओं द्वारा नृत्य एवं गायन-वाद्य प्रस्तुत करने का वर्णन किया है। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री "विज्जिका" ने धान कूटने वाली स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीत का अत्यन्त मनोहर एवं सरस रूप में वर्णन किया है। स्त्रियां धान कूट रहीं हैं साथ ही गीत भी गाती जा रही हैं। मूसल उठाने एवं गिराने के साथ उनकी चूड़ियों से झंकार से निकल रही है। गीतों के स्वर चूड़ियों की झंकार से मिलकर आनन्द की सृष्टि कर रहे हैं।[4]

---

1. क. नेत सीहस्स नदितं न व्याधरस न दीपितो।
पारुतो सीहचम्मेन जम्मो नदति गदमोति ॥
—पालिजातकावली, पृ०-17

ख. चिरं पि खो तं खोदय्य गदमो हरितं यवं।
पारत्तो सहिचम्मेन समानो च दूसमीति ॥ वही, पृ०–17

2. अज्जं गओत्ति, अज्जं गओत्ति, अज्जं गओति मणिरीए।
पढमच्चिय दिरुहछे कुड्डो रेहाहिं चितलिओ ॥
—गाथा सप्तशती, 33/8

3. सुख श्रवा मंगल सूर्य निस्विना: प्रमोद नृत्यै: सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधोपते: पथि व्यजम्यन्त दियोकसामयि ॥
—रघुवंश, 3/119

4. विलासमसृणोल्लसम्मुसत लोलदो: कन्दली -
परस्पर परिस्खतद्वलमानि: स्वनोद् वन्धरा:।
लसन्ति कलहुंकृति प्रसभकम्पितोर: स्थला,
त्रुदुगमक संबुता कलभगण्डली गीत्तम: ॥
(हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 16,)
पृ० 20 से उद्धृत

इसी प्रकार महाकवि हृष ने चक्की चलाती हुई स्त्रियों का उल्लेख किया है। स्त्रियां सत्तू पीस रही हैं जिसकी सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट कर लेती हैं।[1] चक्की चलाती स्त्रियां गीत गाती हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अनेक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगल गान गाए जाने का उल्लेख किया है। राम-जन्म, सीता का गौरी-पूजन, सीता-स्वयंवर, सीता-राम-विवाह इत्यादि समस्त अवसरों पर स्त्रियां मधुर गीतों का गायन करती हैं। तुलसीदास जी ने लोक गीतों की व्यापक महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके काव्य में कोई भी पावन-क्षण गीतों की सुधा-धारा से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता है। राम-विवाह के अवसर पर बारात को भोजन कराते हुए स्त्रियों द्वारा जेवनार तथा गाली गाने का उल्लेख भी उन्होंने किया है।[2] गाली गाने की प्रथा हिन्दू समाज हैं अभी तक चली आ रही है, एक नवविवाहिता अपने पति से कहती है—

"घुन्डी खोई गई रोनादार हमारे बाजूबन्द की।
घर ही घर में खोई गई घुन्डी, अब का बलम हम पै धरी है हुन्डी॥
दौरानी, जठानी मेरी दौऊ हैं गुन्डी॥
ले गई साफ चुराय, सलाह कुछ छोटी ननद की।"

तुलसीदास जी ने अपने काव्य में लोकरीतियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया है। लोक-रीतियों के सम्यक् निरूपण के समय लोकगीतों को अत्यधिक महत्त्व देना स्वाभाविक ही था। "जानकी मंगल" एवं "पार्वती मंगल" में समस्त वैवाहिक रीतियों एवं विधियों सहित क्रमशः राम-सीता एवं शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें रीति के अनुकूल गीत गाए जाने का सर्वत्र उल्लेख प्राप्त होता है। राजस्थान में "ढोला मारूरा दूहा" एक लोकगीतात्मक काव्य है। जगनिक का आल्ह खण्ड भी गीतों की प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अपने मौलिक रूप में वह जैसा भी रहा हो, लोककण्ठ से प्रवाहित होकर लोकगीत की परम्परा में आ गया है।

---

1. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात पथिकाहूवानद-सक्तु सौरभैः।
   कलहान्न धनान् यदुत्थितात् अधुनाप्युज्झति घर्घर स्वनः॥
   —नैषधचरित सर्ग 2/85

2. जेंवत देहि मधुर धुनि गारी।
   लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥—बालकाण्ड
   नैन विशाल नउनियां भौं चमकावइ हो।
   देह गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावई हो॥—रामललानहछु।

आधुनिक काव्य की चेतना में, प्रचलित लोकगीत परम्परा की छाप पन्त जी के "ग्राम्या" शीर्षक में स्वतः अंकित हो उठी है। लोक जीवन के प्रति मानव-मन की आस्था के परिणाम स्वरूप अनेक अन्तर्भूत तथ्यों का उद्घाटन हो रहा है यथा—

मांगतु मांगतु मान घटे,
अरु प्रीति घटे नित के घर जाए।
ओछे के संगते बुद्धि घटे,
औरु क्रोध घटे मन के समझाए॥

—0—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजयाधनेन
शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः॥

ऋ० 10-18-2॥

अर्थ :—हे मनुष्यो! तुम मृत्यु के पैर उखाड़ते हुए आगे बढ़ोगे तभी दीर्घायु प्राप्त करोगे। अर्थात् निडर होकर कार्य करोगे, यश मिलेगा और यश कभी क्षीण नहीं होता। तभी प्रजा और धन से भरपूर रहोगे। किन्तु इसके लिए तुम शुद्ध, पवित्र और यज्ञमय जीवन बिताओ।

सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

ले०—सभाबहादुर सिंह

छात्र एम०ए० । द्वितीय वर्ष । हिंदी

'सत्य,-शिवं-सुन्दरम' हिन्दी साहित्य के लिए एक सूत्र है। यहां की प्राचीन शास्त्रीय प्रणाली यह रही है कि पहले किसी सूत्र का निर्माण कर लिया जाता है, पुन: उसकी व्याख्या की जाती है। यह सत्यं-शिवं-सुन्दरम् भी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसा ही सूत्र है जिसका प्रचार आजकल अधिक हो रहा है। यह सूत्र आज आदर्श और उद्देश्य के रूप में व्यवहृत हो रहा है। बंकिमचन्द्र के "वन्देमातरम" के समान इसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता बराबर बढ़ती जा रही है। इसकी व्यापकता जब इतनी अधिक है तो हमें इसके प्रारम्भिक इतिहास को भी जानना चाहिए।

मूल स्रोत

कुछ विद्वानों का विचार है कि यह 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' यूनानी दार्शनिक अरस्तू के (The Truth, The Good The Beautiful) का हिन्दी अनुवाद है, किन्तु यह बात पूर्णत: सत्य प्रतीत नहीं होती। भारत वर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में कोई भी नवीन नहीं है। भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, मूलत: इन्हीं पर आधारित हैं। जैसे—सच्चिदानन्द'। इसमें सत्य का आन्नद रूप प्रस्तुत है। 'हित' मनोहारि च दुर्लभ च' में शिवं और सुन्दरम का रूप मिल जाता है। भारतीय संस्कृति में अधिकांशत: तीन संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है जैसे-धर्म के क्षेत्र में—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। दर्शन के क्षेत्र में सत्, चित, आन्नद। सृष्टि के तीन मूल तत्व-आदि, मध्य, अन्त। ब्रहम के तीन रूप- अव्यक्त (व्यक्त से पहले), व्यक्त और पुन: अवयक्त (प्रलय के पश्चात) का अस्तित्व है। अत: सत्यं-शिवं-सुन्दरम भी इसी प्रकार साहित्य का एक सूत्र रूप है। इस सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को यदि और संक्षिप्त किया जाय तो शिव में समाहित हो जाता है क्योंकि कर्तव्यपथ में सत्य शिव बन जाता है और शिव कल्याणकारी होने से सुन्दर होता है अत: इनका एक दूसरे से अनन्य संबंध है। "पंत" जी की पंक्तियों में इनका स्वरूप देखें-

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,

लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

सत्य का स्वरूप

'सत्य' का स्वरूप दर्शन में उस आनन्द स्वरूप सत्ता से है जो अव्यक्त है और जिससे जीव पृथक् होकर अनेक सांसारिक यातनाओं में पड़कर दुख भोगता है और पुनः लौटकर उसी अव्यक्त सत्ता में अपने को विलीन कर देता है। यह संसार असत्य है, स्वप्नवत् है किन्तु यह तभी होता है जब जीव इन सांसारिक व्यापारों के सामने अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है। मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यह मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। रस-दशा में आने पर मनुष्य अपने संकुचित विचारों को छोड़कर भावलोक में चला जाता है। इस स्थिति में पहुंचने पर मनुष्य कुछ समय के लिए अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन कर देता है। ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न, उसी का एक अंश अनुभव करता है। जगत् के साथ उस ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। यही "सत्य" का स्वरूप है।

काव्य में कवि अपनी कल्पना और अनुभूति के आधार पर सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। वह यर्थाथ अथवा बीते हुए के अतिरिक्त सम्भावय–सत्य का चित्रण करता है। उसकी यह कल्पना अनुभूतिजन्य होती है, अतः वह कल्पना ही नहीं वरन् शाश्वत सत्य पर आधारित होती है। काव्य में प्रकृत–सत्य की अपेक्षा सम्भाव्य–सत्य ही काव्य में आदर्श की प्रतिष्ठा करता है।

'शिव' का स्वरूप

मनुष्य अपनी सत्ता से भाव-सत्ता में विचरण करने लगता है और ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने पर वह लोकमंगल की कामना करता है। वह अपनी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा, हास-विलास में जगत् के आनन्द का अनुभव करता है। यही उसका कर्तव्य है। इसी कर्तव्य-पथ में विश्वात्मा में जो लोकमंगल का तत्व है वही 'शिव' है अर्थात् लोकमंगल ही शिव है।

भारतीय शास्त्र में 'शिवजी' के इस 'शिव' की सम्पूर्ण विशेषता व्यापत है। 'शिवजी' के नरमुण्ड-माल, सर्प, विष आदि अमंगल हैं किन्तु इन सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्रमा और समस्त कलुषों को धो देने वाली पावन पवित्र गंगा विराजमान हैं। अतः 'शिवजी' का वह कुरूप अमंगलकारी भूली भटकी आत्माओं को तो धारण करता ही है साथ ही सबसे सुन्दर अमृतमय चन्द्रमा और कलुष-निकन्दिनि पावन गंगा को सबसे

उच्च स्थान दिया है। "शिवजी" का यही प्रभुत्व अमंगल को भी मंगलमय बना देता है। यही शिवत्व है। इसीलिए इतना भयंकर वेषधारी शिव ही "शिव" है।

जैसे रामचन्द्र जी जग–पीड़क रावण पर आघात करते हैं। उसके वंश का नाश कर देते हैं, उसे मार डालते हैं, किंतु यह सब अशोभनीय कार्य वे केवल परजनहित की भावना से कहते हैं। अतः राम शिवकारी थे।

तुलसी ने भी इसी का वर्णन किया है :-

"जब जब होय धरम की हानी।
बाढ़हि अधम असुर अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा।
हरिहं कृपानिधि सज्जन पीरा"॥

काव्य में इसी प्रकार कुरुपता को सौन्दर्य में अमंगल को मंगल में चित्रित करना ही शिव कहा जा सकता है।

'सुन्दरम' का स्वरूप

प्रज्ञा का सत्य स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और नेत्रों में जाकर लावण्य बन जाता है। इस अनूपलावण्य रूप को ही सौन्दर्य कहते हैं।

'कीटस' के शब्दों में-'Beauty is truth Truth is beauty' कहा गया है।

शुक्ल जी ने- "हमारी अन्तःसत्ता की यही उदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।" कहा है।

अतः सौन्दर्य की परिभाषा यह हुयी कि जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य को पूरा करे, वही सुन्दर है। सौन्दर्य को विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह एक वस्तु है और उसके अनुभवकर्ता अनेक मनुष्य हैं। सभी अपने-अपने अनुसार उसका

अनुभव करते हैं किंतु उसकी महिमा घट नहीं सकती। जैसे -

सीतलातारु सुगन्धि की घटी न महिमा मूर,

पीनस वारो ज्यों तजै सोरा जानि कपूर ।

वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक सा रहे और दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता मिले । बिहारी ने अपनी नायिका का ऐसा ही रूप चित्रित किया है जिसमें सदैव नवीनता दिखायी पड़ती है, यथा -

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के, गतुर चितेरे कूर ।।

आन्नद की अनुभूति हम दो अवस्थाओं में करते हैं । साधनावस्था 2. सिद्धावस्था ।

साधनावस्था में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहाभूति होती है । वे अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की खोज करते हैं । यह खोज उपासना कहलाती है उपासना में ज्ञान कर्म, भक्ति द्वारा हम अभीष्ट की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और प्राप्ति में सुख का अनुभव करते हैं, जो सुन्दर होता है ।

सिद्धावस्था साधना द्वारा अमंगल तथा अशिव रूपों को पूर्णतया नष्ट करके मंगलमय रूप की प्राप्ति को कहते हैं । इसमें पूर्ण सौन्द्रय की अनुभूति होती है । इस प्रकार सिद्धावस्था पूर्ण मंगलमय सौन्द्रय की प्राप्ति है ।

जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन, वस्त्र आदि की आवश्कता है उसी प्रकार सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार हृदय को गतिमान और स्वस्थ रखने के लिए सुन्दर कल्पना की आवश्यकता होती है । भक्ति जिस प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति करती है उसी प्रकार भावनाओं द्वारा वह सुन्दर सत्य का निर्माण करती है । कवि अव्यक्त ब्रहम को स्वयं के आन्नद के लिए "एकोह बहुस्याम्" का विचार करता है । सत्य का सुन्दर रूप गोस्वामी तुलसी दास ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है ।

कहा कहौं छवि आजु की, भले बने हौ नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुषबाण लेउ हाथ ।।

काव्य रचना एक प्रकार की कला है और यह कला ही मानव को उस उच्च भाव भूमि पर ले जाती है जहां वह अपनी पृथक अत्ता को भूलकर मनुष्यता के

सर्वोच्च भाव लोक में जा पहुंचता है और अपना पराया भूल जाता है। यह 'सर्व-सुखाय' होती है। कला का अन्तिम लक्ष भी आन्नद है।

अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में सत्यं-शिवं-सुन्दरम तीनों तत्वों का सन्तुलित समन्वय ही उसे पूर्णता प्रदान करता है। एकाकी रूप में ये तीनों तत्व अपूर्ण रहते हैं। अत: यह तीनों तत्व भिन्न न होकर एक ही मूल तत्व के भिन्न भिन्न रूप हैं।

—0—

इदमाप: प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम ॥

ऋ० 1-23-22

अर्थं :- जल देवता हमारे शारीरिक मल को दूर करें और जो कुछ मेरे भीतर तमोगुणी भाव उत्पन्न हों अर्थात मैं कोई पापकर्म करूं, उन्हें भी दूर करें। यदि मैं किसी से द्रोह अथवा क्रोध करूं या असत्य व्यवहार करूं, यह सब जल देवता दूर करें, सारांश यह है कि जैसे जल मानव शरीर के मल को दूर करता है उसी प्रकार आप्त पुरुषों का सत्संग हमारी आन्तरिक मलिनता को दूर करता है। अतएव सत्संङ्ग करना परम धरम है। ठीक ही कहा गया है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—महेन्द्र प्रसाद ध्यानी,
छात्र—विद्यालंकार, द्वि० वर्ष

देवों एवं ऋषि मुनियों की जन्म-स्थली भारत, जो स्वयं में एक विश्व है। काश्मीर से कन्याकूमारी एवं पूर्व में असम से, पश्चिम में शान्ति, अहिंसा व एकता के प्रतीक बापू की जन्मस्थली गुजरात तक फैला हुआ यह देश सदियों से एकता व अखण्डता की सीख संपूर्ण विश्व को देता आया है।

इस देश की संस्कृति, एकता व अखण्डता की ज्योति से विश्व को जगमगाती है। विदेशी इतिहासकार विद्वान भी एक सम्मत रूप से स्वीकार करते हैं, कि भारतीय संस्कृति में समन्वय, त्याग व सहिष्णता का जितना भण्डार हैं उतना विश्व को किसी अन्य देश की संस्कृति में नहीं। सातवीं शताब्दी से इस देश पर आक्रमणों की बौछार शुरु हुई और आक्रमणकारियों ने अपनी संस्कृति की छाप भारत पर डालने का आसीम प्रयत्न किया किंतु बाहरी पुण्य भूमि की संस्कृति, जिसने बाह्य संस्कृतियों को अपने अंक में लेकर मां का असीम प्यार दिया, अपना दूध पिलाकर आंचल में इस तरह ढक लिया जैसे मां अपने बच्चे को अन्य की नजरों से बचाने हेतु अंक में समा लेती है एवं तब केवल मां का ही अस्तित्व दिखाई देता है।

आज विश्व बन्धुत्व का प्रथम उपासक एवं उपदेशक स्वयं बीमार क्यों? अखण्डता के प्रतीक इस शरीर में पारस्परिक द्वेष का मलेरियां कहां से आया? जिससे इस शरीर के अंग-अंग में दर्द एवं टूटन महसूस हो रही है। ये ज्वलन्त प्रश्न हैं। अभी असम की दर्द भरी कराह भारतीय जनता के हृदयपटल पर धुंधली परछाई के रूप में विद्यमान है एवं इधर पंजाब में अलगाव की विषैली भावना उमड़ पड़ी।

उफन पड़ा क्यों भाव द्वेष का?
हुई कान्ति कम क्यों लालिमा की?
ढला सूर्य क्यों स्नेहमंच से?
हुई रैन भर औ कालिमा की॥

कहीं एकता रूपी सूर्य के ढलने पर काली अंधियारी दिशा इस राष्ट्र को न घेर लें अतः सभी जवानों, वयवृद्धों को एकता का दीप जलाना है। विश्वबन्धुत्व का उपदेशक बीमार क्यों ? क्योंकि इसके शरीर के अंग आपस में टकराने लगे।। एक बार शरीर के अंग, चेहरा, हाथ और पैर इस बात पर लड़ने लगे कि किसका कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। हाथ ने कहा कि मैं मनुष्य को खाना देता हूँ एवं साधन जुटाता हूँ। पैरों ने कहा हम शरीर का बोझ ढोते हैं एवं उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं। चेहरे ने कहा मूंह, आँख, नाक, कान सब मनुष्य को मैं देता हूँ अतः मैं महत्वपूर्ण हूँ। पेट की बात पर तीनों हंसते हुए अंग बोले- तुम सब आलसी, केवल हमारे द्वारा जुटाया हुआ भोजन करते हैं, अतः अब हम तुम्हें भोजन नहीं देगें। शरीर को भोजन न मिलने के कारण कमजोरी में धीरे-धीरे उस मनुष्य को मरणासन्न स्थिति में पहुंचा दिया, तब शरीर के अंगों को पेट की आवश्यकता पर विश्वास हुआ एवं उनको यह समझ में आ गया कि शरीर के किसी भी अंग की अनुपस्थिति में शरीर को कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। आज भारत के अंग (विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय) आपस में लड़ रहे हैं। इसी कारण यह नाजुक स्थिति पैदा हो रही है।

आज पंजाब में कुछ सिख भाई खालिस्तान की मांग कर रहे हैं वे खुद मनन करें, सत्तर करोड़ की जनता वाले इस देश में खाली-स्थान कहां बचा हैं ? यदि वे खाली–स्थान चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे निर्माणात्मक कार्यों में रुची लें, परिवार नियोजन अपनाएं। बीस-सूत्रीय कार्यक्रम को सही तरह क्रियान्वित करें। सरकार को सहयोग दें। यदि ये सिख भाई खालिस्तान का अर्थ सिखों का देश मानते हैं तो इसमें दी राय नहीं कि वे गलत हैं क्योंकि भारत ही सिखों का देश है। इस देश की रक्षा में सिख वीरों ने जितनी वीरता, शौर्य देशप्रेम का प्रर्दशन किया है एवं करते हैं, उनसे उपर्युक्त तथ्य सत्य प्रतीत होता है।

अब भाषा का ही उदाहरण लीजिए, उत्तर प्रदेश में उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाये जाने के लिए राजनीतिज्ञों ने जो हथकण्डे अपनाये, क्या वे वैतिक हैं ? हम इस देश में हिन्दु-मुस्लिम सब मिलकर रहते हैं। हमें उर्दू इतनी ही प्यारी है जितनी अन्य भाषायें किन्तु राजनीतिज्ञों ने वोट पाने के लिए संस्कृत और उर्दू को लड़ा दिया जिससे एकता में दरार उत्पन्न हो गई। इन्हें सोचना चाहिए था कि यदि उर्दु को द्वितीय राजभाषा बनाने से एकता में दरार पड़ेगी तो इन्वे संस्कृत को द्वितीय राजभाषा बना कर उर्दु को तृतीय राजभाषा घोषित करना चाहिए था। इससे उर्दु को सर्वसम्मत महप्व भी मिलता और अखण्डता भी बरकरार रहती, किंतु इन्हें तो अपनी कुर्सी और महत्ता बनानी है, चाहे उन्हें साम्प्रदायिक दंगे भड़काने पड़ें अथवा भाषावाद।

असम की हालत भी कम बुरी नहीं हुई। वहां पर जो गलतियां हुई हैं वे ऊपर दिये गये "शरीर के अंगों का टकराव" के लगभग समान ही हुई। असम आन्दोलनकारियों ने मसला विदेशी लोगों को निष्कासित करने का उठाया और कष्ट दिया स्वदेशी भाईयों को। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि हमारा देश ऐसे महात्माओं, विद्वानों को जन्म देता है जिनमें एक महापुरुष विश्व की दो सौ भाषाओं का ज्ञान रखता है। जिनमें से कुछ भाषाओं का ज्ञान वे व्याकरण सम्मत एवं लिपीबद्ध कर प्रकाशित भी कर चुके हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना प्रदर्शित करने वाले इक्ष्वाकुवंशी राम व सीता इसी देश में हुए तथा गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण ने इसी पुण्य भूमि में जन्म लिया। यथा—

"इसी माटी में जन्म लिया था दशरथनन्दन राम ने।
गीता का उपदेश दिया था यदुकुल भूषण श्याम ने॥
इस धरती में सामवेद मन्त्रों का भी मधु गान है।
मुझको अपनी भारत की माटी से अनुपम प्यार है।

महाराणा प्रताप, शिवाजी, सवालाख से एक लड़ाने वाले गुरु गोविन्दसिंह इसी देश के लाल हैं।

अब प्रश्न उठता है अलगाववादिता के लिए दोषी कौन हैं? मेरे विचार से इसके दोषी जनसाधारण से लेकर महान पद पर आसीन सभी व्यक्ति हैं। एक दूसरे को समझने में बार बार गल्तियां की जा रही हैं। महात्मा एवं उपदेशक अपनी धार्मिक गद्दी को गुदगुदी करने के चक्कर में हैं दूसरी और साम्प्रदायिक द्वेषभावना इसका कारण हैं।

भ्रष्ट राजनीति इस अलगाववाद की जड़ है। आज भारत का राजनीतिज्ञ 'राजनीति' शब्द से 'रा' शब्द को पैरों तले रौंद सड़क के किनारे कूड़ेदान में, तम्बाकू के पान की पीक में, भाई-भतीजावाद की टोकरी में और किसी भवन के शिलान्यास करते समय नींव की ईंट में डाल देता है। सरकार आगामी चुनावों की तैयारी में लगी है और विपक्ष सरकार को सत्ता से हटाने के चक्कर में उन्हें जनता से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो केवल अपने अलग एवं स्वस्थ अस्तित्व कीं चिन्ता है।

अलगाववादी है कौन? देश की अखण्डता में दरार डालने वाले कोई वीर साहसी अथवा विद्वान् नहीं अपितु राजनीति एवं समाज में इच्छित स्थान पाने में असफल व्यक्ति हैं। मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी हूं इसलिए मेरा विश्वास है कि नैराश्य

एवं बार-बार मिली असफलताओं के कारण अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए ही देशद्रोह किया जाता है। देशद्रोह अथवा एकता कमजोर करने का प्रयास बिना विदेशी सहायता के नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारी अखण्डता में दरार डालने के लिए विदेशों से शह मिल रही है।

भाइयो, चिन्तन करो, इस भूमि की एकता के लिए वीरों ने अपनी बलि किस तरह हंसते-हंसते अपने परिवार को मझदार में छोड़कर दी। आज सरदार भगतसिंह, आजाद, नेताजी, गांधी जी का भारत मात्र कुछ गलतियों के कारण अलगाववादित से जूझ रहा है। यह ठीक ही है—

"अगर हममें से अब भी एक भगत, आजाद, बन जाये।
सुभाष, गांधी व विस्मिल का ये भारत फिर से बन जाये॥"

यदि आपको खून की नदियां बहाने में आनन्द आ रहा है तो उचित जगह पर बहाइए। आप बुरा न माने मैं एक बात पूछता हूँ, यदि कोई आपके सामने आपकी मां का आंचल छीन ले या फाड़कर फैंक दे तो आपको कैसा लगेगा? अब भी भारत मां के आंचल का कुछ भाग शत्रुओं ने खींचा हुआ है। आप वहां खून की नदियां बहाएं, तो मैं आपको वीर समझूंगा। अपने घर में तो कुत्ता भी शेर हो जाता है।

राजनितिज्ञ, 'राज' नीति' शब्द को साथ लेकर चलें। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए देश की एकता के लिए देश की एकता में अवरोध न बनें। अलगाववादी और सरकार एक दूसरे को सही समझने का प्रयत्न करें। आपस में सद्भाव और विश्वास बनाए रखें।

अनेकता में एकता इस भारतभूमि का गौरव है। कम्यूनिज्म वाले देशों की एकता तो स्वाभाविक है अतः उसमें आकर्षण नहीं होता है, किन्तु हमारे देश की एकता, विविधताओं, विभिन्न धर्म, भाषा एवं क्षेत्रीय बोलियों के होते हुए भी जो सद्भावना, प्रेम, माधुर्यपूर्ण एकता है, वह अस्वाभाविक होने के कारण अति आकर्षक है। आप दो मालायें लीजिये—एक समान आकार व मोतियों को एवं दूसरी असमान मोतियों को। उन्हें पहनकर देखिए। समान मोतियों की माला की सुन्दरता स्वाभाविक होने के कारण असमान मोतियों की माला सुन्दरता के सामने फीकी पड़ जायेगी। यदि इस माला से एक भी छोटा या बड़ा मोती निकाल दिया तो माला की सुन्दरला

में कमी आ जाती है। मेरा तात्पर्य यह है कि भारत ऐसी ही असमान मोतियों की माला है। इसकी एकता, अति अकर्षक है। यदि इसमें से एक भी मतावलम्बी अथवा वर्ग विशेष को अलग किया जाए तो आकर्षण में कमी आएगी।

अपनी प्राचीन मान्यताओं को न भूलें। शरणागत रक्षा, स्नेह, सौहार्द्र, देशप्रेम, विश्वबन्धुत्व की भावना, अहिंसा एवं अभयदान इत्यादि आत्मिक सिद्धान्त इस देश की परम्परा में है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सब समान है।

— 0 —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

ऋ० 10–90–12 ॥

अर्थ :—इस प्रजापति का ब्राह्मणत्व विशिष्ट पुरुष मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय वर्ग वाला पुरुष क्षत्रिय बाहु से उत्पन्न हुआ इस प्रजापति का उरू (जंघा) के समान कार्यशील वैश्य जाति का पुरुष उत्पन्न हुआ। दोनों पैरों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ।

सारांश यह कि सभी वर्ण उस परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं अतः सभी समान हैं। यह मन्त्र समाज चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सुन्दर प्रतीक है।

राष्ट्रीय एकता

ले०—भोपाल सिंह त्यागी,
छात्र—विद्यालंकार। द्वितीय वर्ष।

क्षेत्रफल, जनसंख्या भाषा तथा वेश-भूषा आदि की दृष्टि से भारत एक उपमहाद्वीप कहा जाता है। यहां के विभिन्न राज्यों के निवासी बाह्य दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न ज्ञात होते हैं। भाषाओं की दृष्टि से तो संसार के किसी अन्य देश में इतनी भाषायें नहीं बोली जाती। इतनी विभिन्नता के होने पर भी यहां एक ऐसी एकता पाई जाती है जो सारे देश को एकसूत्र में बांधे हुए है तथा जिसके कारण इतने बड़े भूभाग को एक भारत देश, इतनी बड़ी जनसंख्या को भारत-निवासी तथा इतनी भाषाओं को भारतीय भाषाओं के नाम से पुकारा जाता है। यह एकता हमारी राष्ट्रीय एकता है।

इतनी विभिन्नताओं में भी एकता के कारणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इस एकता का कारण साथ-साथ मिलकर चलने की भावना, आदर्श, त्यौहार-प्रियता, दार्शनिकता, साहित्य, नाच-गान आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने देश को एक राष्ट्रायता के सूत्र में बांध रखा है।

हमारे राष्ट्र में समन्वय की भावना सभी नागरिकों में ओतप्रोत है। समन्वय का अर्थ है कुछ स्वयं झुकना और दूसरे को झुकने के लिए विवश करना और इस प्रकार वीच के मार्ग का सृजन करना। भारत के साहित्य, धर्म, दर्शन, वस्तुकला आदि सभी क्षेत्रों में इसी भावना के दर्शन होते हैं। भारत के सभी साहित्यों की मूल-प्रवृत्ति जीवन के सुख-दुख: का समन्वय करके उन्हें इस प्रकार से प्रस्तुत करने की रही है कि वे मनुष्य के सामने एक शाश्वत सहचर बनकर आते हैं और उसे निरन्तर सुखद भविष्य की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में दक्षिण के आत्मवाद ने उत्तर की प्रकृति-पूजा से मिलकर भारत के सभी धर्मों को प्रभावित किया है। वास्तुकला के क्षेत्र में भी द्रविड़, आर्य तथा ईरानी वास्तुकलाओं का समन्वय आज भारत के सभी राज्यों में प्राप्त होता है और इस प्रकार समन्वय की भावना ने पारस्परिक सहयोग और एकता की भावना को बल प्रदान करके राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोया है।

यद्यपि भारत में हिन्दू, मुसलमान, जैन, फारसी, बौद्ध आदि अनेक धर्म है जो आपस में पर्याप्त भिन्नता रखते हैं, किन्तु सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा उदारता की भावना रखते हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के पुराणों में "बुद्ध" को भी एक अवतार के रूप में ग्रहण किया गया है। यदि एक धर्म वाला दूसरे धर्म वाले से कुछ आर्थिक सहायता धार्मिक कार्य के लिए चाहता है तो वह भी लगभग पूर्ण हो ही जाती है। इसी सहिष्णता तथा उदारता की भावना ने देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है।

धार्मिक प्रचार की भावना ने भी देश को एक सुत्र में बांधा है। बौद्ध धर्म के प्रचार ने देश के विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे से मिलाया तथा समान विचार की भूमि पर बैठाकर एक सूत्र में बांधा। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रचार से ऊंच-नीच का भेद मिटाकर संसार को एक सूत्र में पिरोने का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। शंकराचार्य ने भी सम्पूर्ण देश में भ्रमण करके अपने मत का प्रचार किया और देश के चारों कोनों में चारों मठों की स्थापना करके देश की एकता को बल दिया।

सम्पूर्ण देश में अनेक तीर्थ स्थान हैं। इन तीर्थस्थानों तथा प्रसिद्ध कुम्भ मेलों पर प्रत्येक प्रान्त के निवासी एक दूसरे से मिलकर देश की एकता को बल देते हैं।

इस देश के निवासी यथार्थ की अपेक्षा आदर्श से अधिक प्रेम करते हैं। प्रत्येक प्रांत, धर्म तथा सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने साहित्य, रीति-रिवाज आदि में असत्य पर सत्य की, दुष्टता पर सज्जनता की तथा कुरुपता पर सुन्दरता की विजय दिखाकर उनको ही अपनाते हैं। सभी लोग संयम, परोपकार तथा सर्वसमत्व को अपना आदर्श मानकर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके इस आदर्श प्रेम ने देश को एक सूत्र में बांधने में सहयोग दिया है।

यहां के महान् पुरुषों ने अपनी दृढ़ तपस्या, वलिदान, अटूट लगन से कार्य तत्परता से देश को आज एक सूत्र में बांधने का बहुत ही सफल एवं सराहनीय कार्य किया है। महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोष, लाल बहादुर शास्त्री आदि राजनैतिक नेताओं ने भी इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है तथा यही प्रयत्न करते-करते अपने सीने को गोलियों की बौछार के सामने लाकर रख दिया। महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक पुरुषों ने इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने देश की अखण्डता को निरन्तर कार्यान्वित करने के लिए वेदानुकूल शिक्षा

"गुरुकुल प्रणाली" का शुभारम्भ किया था जो आज भी देश के कोने-कोने में फैल रही हैं तथा देश की एकता को निरन्तर जारी रखने के लिए अनेक स्नातकों को प्रतिवर्ष गुरुकुलों से निकाल रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रकाशवीर शास्त्री, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० सत्यकाम वेदालंकार आदि हैं। ये वीर आत्मायें अनेक जगह पर प्रचार एवं प्रसार का कार्यक्रम द्रुतगति से चलाकर देश को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाने में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। वैसे तो हमारे आधुनिक नेता एवं गणमान्य राज-नैतिक दल भी इस ओर सक्रिय योगदान दे रहे हैं जैसे प्रधान मन्त्री श्रीमति इन्दिरा गांधी का बीस सूत्रीय कार्यक्रम का संचालन—परन्तु वह पूर्णरूप से सफल नहीं हो पा रहा है। चुंकि उसमें कुछ स्वार्थी प्रियता का भी सम्मिश्रण है। लोकनायक बिनोवा भावे ने ग्राम-ग्राम घुसकर गरीब वर्ग की करुण कहानी सुनकर उनके दारिद्रय को दूर कर भूदान यज्ञ का प्रारम्भ करके देश की अखण्डता पर पूर्ण बल दिया है।

इस देश के त्यौहारों ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में पर्याप्त योग दिया है। यदि हम होली के दिन एक वायुयान में बैठकर भ्रमण करें तो हमें सर्वत्र रंग गुलाल का छिड़कना तथा ग्राम्य जीवन के गीतों का पंचम स्वर में गान ही प्राप्त होगा। इन त्यौहारों पर दूर-दूर के व्यक्ति एक दूसरे से मिलकर प्रेम की वृद्धि करते हैं। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय एकता में महत्त्वपूर्ण योग है।

यद्यपि यहां एक दर्शन से भी अधिक प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त प्रचलित हैं पर सभी दर्शन विभिन्न उपायों से आनन्द को प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। विचार के क्षेत्र में इस एकरूपता ने देश की एकात्मकता को सिद्ध करके उसे सर्वाधिक बल दिया है।

साहित्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधने में योग दिया है। हिन्दू, मुसलमान दोनों ने ही सम्प्रदायवाद को संकुचित भावनाओं को छोड़कर हिन्दी, उर्दू में उत्कृष्ट कोटि की राम, रहीम पर कविता लिखी है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो "कौटिक हे कलधौत धाम करील के कुजंन ऊपर बारौ" कहकर "करील की कुजंन" के ऊपर सर्वस्व निछावर करने वाले रसखान के ऊपर अपने को बार दे। इसी प्रकार प्रान्त की संकुचित सीमाओं को लांघकर भी साहित्य की रचनाएं हुई हैं और उन्होंने देशवासियों को एक दूसरे के समीप लाने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

संगीत तथा नृत्य ने भी देश को एक सूत्र में बांधा है। हिन्दु तथा मुसलमान गायनाचार्यों ने दोनों के ईश्वरों को मुक्त कंठ से गुणगान किया है। नृत्य के द्वारा भी विभिन्न प्रान्तों की भावनायें समान रूप से व्यक्त हुई हैं। भागंड़ा, कत्थक आदि नृत्य इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी तत्वों ने देश को एक सूत्र में बांधा है और पर्याप्त विभिन्नताओं के होते हुये भी उसे एकराष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

इतना सब कुछ होने पर भी स्वार्थ की भावनाओं, बदले की भावनाओं, प्रान्तीयता, भाषावाद आदि-आदि कारण देश में समय-समय पर विघटन की प्रवृत्ति के दर्शन कराते हैं। जयचन्द ने पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए ही देश को विदेशियों के हाथ में सौंप दिया था। आधुनिक काल में भी भाषावाद के कारण पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में अनेक पारस्परिक झगड़े होते रहते हैं। आज पंजाब के "अकाली खालिस्तान" की मांग केवल स्वार्थ के पीछे ही अंधे होकर कर रहें हैं। विदेशी कूटनीति भी देश को खंडित करने का समय-समय पर प्रयास करती रही है। आसाम तथा पंजाब आज स्वार्थ में या विदेशी कूटनीति में जल रहा है। उसकी आत्मा चीत्कार रही है, उन चीत्कारों को सुनने का हमारे पास समय तक नहीं है "द्रविड़ मुनेत्र कड़गम" नाम की संस्था का आंदोलन भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

यद्यपि विघटन की प्रवृत्ति हमें झकझोर डालती है और सांस्कृतिक एकता को संकट–सा प्रतीत होने लगता है पर देश की आत्मा बलपूर्वक अपनी एकरूपता को प्रकट कर देती है। वर्तमान समय में चीनी आक्रमण से पहले देश में अनेक विघटनात्मक आन्दोलन चल रहे थे पर आक्रमण के होते ही वे सभी आन्दोलन समाप्त हो गये और देश ने एकमत होकर चीनी आक्रमण का विरोध किया। उसने देश की एकरूपता को सच्चे रूप में हमारे सामने रख दिया है। यह सम्भव है कि पुनः ऐसी विघटनकारी शक्तियां अब भी सिर उठाने लगें, अतः हम सबको साहित्य, संगीत, क्रीड़ा, नृत्य आदि के प्रचार के द्वारा तथा स्वार्थवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद आदि के विनाश के द्वारा उनका विनाश करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। वास्तव में हमें सहिष्णु बनना चाहिए, दूसरों के विचारों का आदर करना चाहिए तथा पारस्परिक विभिन्नता की अपेक्षा समानता पर अधिक ध्यान देना चाहिए, तभी हम अपनी एकता को अक्षरण रखकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगें। हमें अपने तन-मन-धन के साथ राष्ट्र की एकता बनाने एवं चिरस्थायी रखने का सदैव प्रयत्न करते रहना होगा। तभी हम राष्ट्र को पुनः "सोने की चिड़िया" नाम से अलंकृत कर सकेंगे।

परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये जब हम विघटनात्मक तत्वों को समाप्त कर, एक स्वर में गा उठें- "जय भारत, जय भारती"।

— 0 —

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम	—	काशी की पाण्डित्य परम्परा"
लेखक	—	आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक	—	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी
कुल पृष्ठ	—	909
मूल्य	—	125 रुपये

ले०—डा० विजयपाल शास्त्री एम०ए०,
साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

संस्कृत वाङ्मय के विद्वान् पंडित बलदेव उपाध्याय के अमूल्य ग्रन्थरत्नों की परम्परा में एक अन्य नवीन ग्रन्थरत्न जुड़ गया है— "काशी पाण्डित्य की परम्परा"। आचार्य बलदेव उपाध्याय के नाम और उनकी अलौकिक शेमुषी और वैदुष्य से संस्कृत जगत् चिर-परिचित है। और उनके द्वारा रचित भारतीय दर्शन, संस्कृत साहित्य का इतिहास, बौद्ध दर्शन मीमांसा आदि प्रकृष्ट ग्रन्थों का साहाय्य लेकर उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अनेक परीक्षावारिधियों का सन्तरण सुगमता से कर चुके हैं। प्रस्तुत विशाल ग्रन्थ "काशी को पाण्डित्य परम्परा" काशी से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृत के प्रसिद्ध और अज्ञातनामा विद्वानों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। ऐसा करके जहां लेखक ने दिवंगत अज्ञात संस्कृत पण्डितों पर उपकार किया है वहीं जिज्ञासु पाठकों पर महान् अनुग्रह किया है। काशी की पाण्डित्य परम्परा के लगभग आठ सौ वर्षों का यह प्रामाणिक इतिहास संस्कृत भाषा के अनुरागियों, जिज्ञासुओं तथा शोधकर्ताओं के लिए एक अमूल्य निधि सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ में 1200 ई० से 1950 ई० तक हुए पण्डितों को लेखक ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में उन पण्डितों की गणना है जिन्होंने वाराणसी में ही अध्ययन किया है और वाराणसी में ही रहकर अध्यापन करते हुए अशेष जीवन यापित किया है। द्वितीय श्रेणी के विद्वान् वे हैं जिन्होंने ज्ञानार्जन तो काशी में किया किंतु उसका वितरण भारत के अन्य प्रान्तों में जाकर किया। तृतीय श्रेणी में उन पंडितों का समावेश किया है जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन तो काशी के बाहर किया किंतु काशी के छात्रों को पाण्डित्य का प्रसाद दिया।

इस महनीय ग्रन्थ की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें पण्डितों का केवल

जीवन परिचय ही नहीं दिया गया बल्कि उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विश्लेषण और समालोचन प्रथम बार उपन्यस्त किया गया है। पण्डितों के रुचिकर और ज्ञानवर्धक संस्मरणों से इस ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक बढ़ गयी है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के ऐतहासिक अनुशीलन का श्लाघनीय प्रयास तो इससे पूर्व कई बार हो चुका किन्तु गत दो सौ वर्षों के अन्दर उत्पन्न हुए काशी के विख्यात संस्कृत के पण्डितों का सामूहिक रूप से एकत्र वर्णन अभी तक अनुपलब्ध था। प्रस्तुत रचना इसी अभाव की पूर्ति का श्लाघनीय प्रयास है। लेखक ने कवियों और विद्वानों के दुर्लभ चित्रों की यथाशक्ति खोजकर प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान उपन्यस्त किया है। इस ग्रन्थ के महत्व का प्रतिपादन इसी बात से हो जाता है कि लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है "आन्नदातिरेक की अभिव्यक्ति होने के कारण मैं प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने जीवन की सौभाग्यशाली रचनाओं मे विशेष महनीय मानता हूँ।"

ग्रन्थ की भाषा सरल हिन्दी है जो लेखक की आत्माभिव्यंजना में पूर्ण सक्षम है। "काशी की पाण्डित्य परम्परा" का उद्देश्य है काशीस्थ विद्वन्मण्डली की विमल कीर्ति-गाथा का संरक्षण उनके आदर्श जीवन से संस्कृत विद्या की उपलब्धि तथा ऋषि ऋण से मोचन। यह ग्रंथ शोधार्थियों के लिए वरदान है। यदि मन में संस्कृत के दुर्लभ एवं प्रशस्त रचना प्रसूनों के संग्रह की अभिलाषा है, सुभाषित रत्नों के चमत्कार से चित्त को स्वर्णकान्त बनाने की इच्छा है तथा सत्साहित्य के रसास्वादन का अवार्य लोभ है तो प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वात्मना सेवनीय है।

— 0 —

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वा मुञ्चत्वंहसः॥

यजु० 20–16 ॥

अर्थ :—जागृतावस्था, स्वप्नावस्था में भी यदि कोई पाप हम करें तो उस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान वर्तमान होते हुए आप मुझको पृथक् करें।

सम्पादकीय वक्तव्य

यह पत्रिका सर्वप्रथम उन लेखकों के प्रति आभार प्रगट करती है जिन्होंने अपने लेख द्वारा इस पत्रिका की श्रीवृद्धि की है। इसके साथ ही पत्रिका सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों को उनके हार्दिक सहयोग हेतु धन्यवाद देती है। डा० विजयपाल शास्त्री (प्रवक्ता दर्शन-विभाग), डा० त्रिलोकचन्द (प्रवक्ता, दर्शन-विभाग) तथा डा० भगवानदेव पाण्डेय प्रवक्ता हिन्दी-विभाग) ने सराहनीय सहयोग दिया है अतः पत्रिका उनके प्रति विशेष आभार प्रगट करती है। आशा है भविष्य में भी उनका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पत्रिका की परामर्शदात्री समिति के सभी सदस्य अपने-अपने विषयों के विद्वान हैं। उन सभी के सहयोग के लिए धन्यवाद देना उचित होगा। पत्रिका को सबसे अधिक लाभ श्रद्धेय पं० सत्यकाम विद्यालंकार के मार्गदर्शन से हुआ है। पत्रिका उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करती है।

पत्रिका के गतांक में "राष्ट्रीय एकता" विशेषांक हेतु लेख आमंत्रित किए गये थे। उसकी अंतिम तिथि 28 फरवरी 84 रखीं गई थी। अंतिम तिथि तक जो लेख प्राप्त हुए उनमें से दो लेख इस अंक में प्रकाशियत किए गए हैं। शेष लेखों का स्तर उचित न होने के कारण उन्हें प्रकाशनयोग्य नहीं समझा गया। उक्त दोनों लेखों को पुरस्कृत किया जायेगा।

इस विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति जी ने सदैव उत्साह बढ़ाया है तथा मार्गदर्शन भी किया है। उनके प्रति जितना भी आभार प्रगट किया जाये कम है। श्रद्धेय आचार्य जी, कुलसचिव जी, उपकुलपति जी तथा वित्त-अधिकारी जी की कृपा के बिना इस पत्रिका का प्रकाशन समय पर न हो पाता। इसके लिए पत्रिका उनके प्रति आभार प्रगट करती है।

इस विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेलो के रूप में हिन्दी के विद्वान डा० विश्वनाथ मिश्र डी०फिल०, डी०लिट० के कई व्याख्यान हुए। उनके व्याख्यानों ने मौलिक चिन्तन के लिए नई दिशा प्रदान की। पत्रिका उनके प्रति भी अपना आभार प्रगट करती है।

आशा है पत्रिका आगे भी अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगी।

—सम्पादक

परामर्शदात्री समिति

प्रकाशक—

डा० जबरसिंह सैंगर
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

मुद्रक—

गोपाला प्रिंटर्ज़
५५५, सैक्टर ३६-बी,
चंडीगढ़

सूचना

इस पत्रिका के अन्तर्गत प्रकाशित लेखों में निहित विचार लेखकों के अपने विचार हैं। उन्हें इस संस्था अथवा सम्पादक के विचार न समझा जाये।